ह्रीः

दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध पत्रिका

Journal of Rare Buddhist Texts Research Unit

37

दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध अनुभाग
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी
2004

ह्रीः

दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध पत्रिका

37

सम्पादक

डवङ् समतेन
निदेशक

जनार्दन पाण्डेय



दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध अनुभाग
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

बुद्धाब्द २५४८ बुद्ध पूर्णिमा ख्रीस्ताब्द २००४

३७वाँ अंक, ५५० प्रतियाँ, २००४

मूल्य : रु० ९०.००

प्रकाशक :

केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान,
सारनाथ, वाराणसी-२२१ ००७

मुद्रक :

सुरभि प्रिन्टर्स
सी० २७/२७३, इण्डियन प्रेस कालोनी
मलदहिया, वाराणसी-२२१ ००२

Dhīḥ

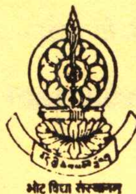
Journal of Rare Buddhist Texts Research Unit

37

Editors

NGAWANG SAMTEN
Director

JANARDAN PANDEY



RARE BUDDHIST TEXTS RESEARCH UNIT
Central Institute of Higher Tibetan Studies
Sarnath, Varanasi

B.E. 2548 **BUDDHA PŪRṆIMĀ** **C.E. 2004**

Co-Editors

Thakur Sain Negi
Thinlay Ram Shashni
Tsering Dolkar
Vijay Raj Vajracharya

Banarsi Lal
Chhog Dorjee
Ranjan Kumar Sharma

Vol. xxxvii, 550 copies, 2004

Price : Rs. 90.00

Published by:

Central Institute of Higher Tibetan Studies,
Sarnath, Varanasi-221 007

Printed by:

Surabhi Printers
C. 27/273, Indian Press Colony
Maldahia, Varanasi-221 002

धीः XXXVII

विषयानुक्रमणी

स्तोत्र—

1. बुद्धस्तोत्रम् 1-2

2. आकाशगर्भबोधिसत्त्वनामशताध्येषणम् 3-4

रहस्ये परमे रम्ये —जनार्दन पाण्डेय 5-10

भूतडामरतन्त्रस्थ मुद्राएँ —जनार्दन पाण्डेय 11-16

आर्यत्रिरत्नानुस्मृतिसूत्रम् —ङ्लछेन नमडोल 17-32

महायान एवं तन्त्रयान में गुरु-प्रत्यय विमर्श —बनारसी लाल 33-50

दुर्लभ ग्रन्थों की आधार सामग्री —ठाकुरसेन नेगी 51-72

विविध रूपा बौद्ध देवी तारा —ठाकुरसेन नेगी 73-98

सञ्चक : निर्माणविधि एवं माहात्म्य —लोसंग दोर्जे 99-116

बौद्ध एवं बौद्धेतर धर्मों में 'दीक्षा' का स्वरूप (2) —रञ्जनकुमार शर्मा 117-122

तन्त्र की सामान्य एवं संक्षिप्त व्यवस्था (7) —छेरिंग डोलकर 123-138

वज्रयान की भूमि एवं मार्ग व्यवस्था (1) —छोग दोर्जे 139-148

हेरुकाभ्युदयमहायोगिनीतन्त्रराजस्य कतिपयाक्षरापञ्जिका 149-170

निबन्धों का संक्षिप्त परिचय (अंग्रेजी) 171-175

निबन्धों का संक्षिप्त परिचय (तिब्बती) 176-182

•

न बुद्धः परिनिर्वाति न धर्मः परिहीयते ।
सत्त्वानां परिपाकाय परिनिर्वाणं निदर्श्यते ।।

अचिन्त्यो भगवान् बुद्धो नित्यकायस्तथागतः ।
देशेति विविधान् व्यूहान् सत्त्वानां हितकारणात् ।।

(सुवर्णप्रभाससूत्रम्-1.30-31)

बुद्धस्तोत्रम्

[प्रस्तुत स्तोत्र आचार्य असंग प्रणीत महायानसूत्रालंकार के 'चर्याप्रतिष्ठाधिकार' (43-61) से लिया गया है। इनमें प्रत्येक श्लोक में बुद्ध के विभिन्न गुणों की स्तुति की गई है।]

अनुकम्पकसत्त्वेषु संयोगविगमाशय ।
अवियोगाशय सौख्यहिताशय नमोऽस्तु ते ।।1।।

सर्वावरणनिर्मुक्त सर्वलोकाभिभू मुने ।
ज्ञानेन ज्ञेयं व्याप्तं ते मुक्तचित्त नमोऽस्तु ते ।।2।।

अशेषं सर्वसत्त्वानां सर्वक्लेशविनाशक ।
क्लेशप्रहारक क्लिष्टसानुक्रोश नमोऽस्तु ते ।।3।।

अनाभोग निरासङ्ग अव्याघात समाहित ।
सदैव सर्वप्रश्नानां विसर्जक नमोऽस्तु ते ।।4।।

आश्रयेऽथाश्रिते देश्ये वाक्ये ज्ञाने च देशिके ।
अव्याहतमते नित्यं सुदेशिक नमोऽस्तु ते ।।5।।

उपैत्य वचनैस्तेषां चरिज्ञ(त्र) आगतौ गतौ ।
निःसारे चैव सत्त्वानां स्ववबाद नमोऽस्तु ते ।।6।।

सत्पौरुष्यं प्रपद्यन्ते त्वां दृष्ट्वा सर्वदेहिनः ।
दृष्टमात्रात्प्रसादस्य विधायक नमोऽस्तु ते ।।7।।

आदानस्थानसंत्यागनिर्माणपरिणामने ।
समाधिज्ञानवशितामनुप्राप्त नमोऽस्तु ते ।।8।।

उपाये शरणे शुद्धौ सत्त्वानां विप्रवादने ।
महायाने च निर्याणे मारभञ्ज नमोऽस्तु ते ।।9।।

ज्ञानप्रहाणनिर्याणविघ्नकारकदेशिक ।
स्वपरार्थेऽन्यतीर्थ्यानां निराधृष्य नमोऽस्तु ते ।।10।।

विनिगृह्य वक्ता पर्षत्सु द्वयसंक्लेशवर्जित ।
निरारक्ष असंमोष गणकर्ष नमोऽस्तु ते ॥ 11 ॥

चारे विहारे सर्वत्र नास्त्यसर्वज्ञचेष्टितम् ।
सर्वदा तव सर्वज्ञ भूतार्थिक नमोऽस्तु ते ॥ 12 ॥

सर्वसत्त्वार्थकृत्येषु कालं त्वं नातिवर्तसे ।
अबन्ध्यकृत्य सततमसंमोष नमोऽस्तु ते ॥ 13 ॥

सर्वलोकमहोरात्रं षट्कृत्वः प्रत्यवेक्षसे ।
महाकरुणया युक्त हिताशय नमोऽस्तु ते ॥ 14 ॥

चारेणाधिगमेनापि ज्ञानेनापि च कर्मणा ।
सर्वश्रावकप्रत्येकबुद्धोत्तम नमोऽस्तु ते ॥ 15 ॥

त्रिभिः कायैर्महाबोधिं सर्वाकारामुपागत ।
सर्वत्र सर्वसत्त्वानां काङ्क्षाच्छिद नमोऽस्तु ते ॥ 16 ॥

निरवग्रह निर्दोष निष्कालुष्यानवस्थित ।
आनिङ्क्ष्य सर्वधर्मेषु निष्प्रपञ्च नमोऽस्तु ते ॥ 17 ॥

निष्पन्नपरमार्थोऽसि सर्वभूमिविनिःसृतः ।
सर्वसत्त्वाग्रतां प्राप्तः सर्वसत्त्वविमोचकः ॥ 18 ॥

अक्षयैरसमैर्युक्तो गुणैर्लोकेषु दृश्यसे ।
मण्डलेष्वप्यदृश्यश्च सर्वथा देवमानुषैः ॥ 19 ॥



आकाशगर्भबोधिसत्त्वनामशताध्येषणम्

[''आकाशगर्भबोधिसत्त्वनामशताध्येषणम्'' नामक यह अध्येषणा स्तोत्र ''सर्वतथागततत्त्वसंग्रह'' नामक ग्रन्थ के 19वें परिच्छेद से उद्धृत कर प्रकाशित किया जा रहा है। इसमें आकाशगर्भ बोधिसत्त्व की 100 नामों से अध्येषणा की गई है।]

आकाशगर्भ सत्त्वार्थ महासत्त्व महाद्युते ।
महारत्न सुरत्नाग्र्य वज्ररत्न नमोऽस्तु ते ।।1।।

अभिषेक महारत्न महाशुद्ध महाशुभ ।
बुद्धरत्न विशुद्धाङ्ग रत्नरत्न नमोऽस्तु ते ।।2।।

आकाशाकाशसंभूत सर्वाकाश महानभ ।
आकाशधातु सर्वाश सर्वाशाग्र्य नमोऽस्तु ते ।।3।।

रत्नसंभव रत्नोर्ण बुद्धोर्ण सुतथागत ।
सर्वरत्न सुसर्वाग्र्य रत्नकार्य नमोऽस्तु ते ।।4।।

रत्न रत्नाग्र्य रत्नोग्र रत्नसर्वतथागत ।
रत्नोत्तम महाकाश समाकाश नमोऽस्तु ते ।।5।।

अलङ्कार महाक्षोभ शोभाकर सुशोभक ।
शुद्ध सर्वार्थ शुद्धार्थ दानचर्य नमोऽस्तु ते ।।6।।

धर्मरत्न विशुद्धाग्र्य सङ्घरत्न तथागत ।
महाभिषेक लोकार्थ प्रमोदार्थ नमोऽस्तु ते ।।7।।

दान प्रदान दानाग्र्य त्याग त्यागाग्र्यदायक ।
सर्वसत्त्वार्थ तत्त्वार्थ महार्थार्थ नमोऽस्तु ते ।।8।।

चिन्ताराज महातेज दानपारमितानय ।
तथागत महासत्त्व सर्वबुद्ध नमोऽस्तु ते ।।9।।

तथागत महारत्न तथागत महाप्रभ ।
तथागत महाकेतो महाहास नमोऽस्तु ते ॥ 10 ॥

तथागताभिषेकाग्र्य महाभिषेक महाविभो ।
लोकनाथत्वलोकाग्र्य लोकसूर्य नमोऽस्तु ते ॥ 11 ॥

रत्नाधिकाधिकतर रत्नभूषण रत्नधृक् ।
रत्नालोक महालोक रत्नकीर्ते नमोऽस्तु ते ॥ 12 ॥

रत्नोत्कर सुरत्नोत्थ मणे वज्रमणे गुण ।
रत्नाकर सुदीप्ताङ्ग सर्वरत्न नमोऽस्तु ते ॥ 13 ॥

महात्मयष्टि रत्नेश सर्वाशापरिपूरक ।
सर्वाभिप्रायसंप्राप्ति रत्नराशि नमोऽस्तु ते ॥ 14 ॥

अंश्वग्र्य व्यापि सर्वात्म वरप्रद महावर ।
विभूते सर्वसंपत्ते वज्रगर्भ नमोऽस्तु ते ॥ 15 ॥

यः कश्चिद् धारयेन् नाम्नामिदं तेऽष्टशतं शिवम् ।
सर्वबुद्धाभिषेकं तु स प्राप्नोत्यनघः क्षणात् ॥ 16 ॥

अध्येषयामस्त्वां रत्नभाष स्वधनसंचयम् ।
सर्वबुद्धाभिषेकाग्र्यमुत्पादनियमकुलम् ॥ 17 ॥

•

रहस्ये परमे रम्ये

—जनार्दन पाण्डेय—

[तन्त्र को रहस्य (गोपनीय) कहा है। प्रत्येक व्यक्ति उसका अधिकारी नहीं होता, क्योंकि तन्त्रसाधना से उस विलक्षण सुख की अनुभूति होती है, जो अद्भुत, अलौकिक और अनुत्तर होता है। इसकी प्राप्ति का मार्ग बताने के लिए जब साधकों ने भगवान् बुद्ध से प्रार्थना की तो उन्होंने चक्रसंवरतन्त्र, सम्पुटोद्भवतन्त्र, योगिनीसंचारतन्त्र आदि में एक ही उत्तर दिया—'रहस्ये परमे रम्ये'।

प्रस्तुत लेख में उपर्युक्त ग्रन्थों के आधार पर उन पाँच मार्गों को सरल भाषा में व्यक्त करने का प्रयास किया गया है, जो उस उस अलौकिक सुख प्राप्ति के साधन हैं।]

सर्वतथागतों ने भगवान् की विधिवत् पूजा करके हाथ जोड़कर प्रार्थना की 'भाषस्व भगवन् सारं रहस्यं ज्ञानमुत्तमम्' हे भगवन् हमें उस रहस्यभूत उत्तम तत्त्वज्ञान को कहिये'। तब भगवान् ने उनकी इस अध्येषणा को सुनकर सर्वहृदयज्ञानतन्त्रप्रदीप नामक समाधि द्वारा इस रहस्य का उद्घाटन किया—

रहस्ये परमे रम्ये सर्वात्मनि सदा स्थितः ।
सर्वबुद्धमयः सत्त्वो वज्रसत्त्वः परं सुखम् ।
असौ हि स्वयम्भूर्भगवान् वीरो डाकिनीजालसंवरः ।।

(चक्रसंवरतन्त्र 1.2-3)

रहस्यमय, परम, रम्य, सब रूपों में सदा रहने वाला सत्त्व ही वज्रसत्त्व है। यही परमसुख (निर्वाण या मोक्ष) है, यही भगवान् स्वयम्भू वीर है और डाकिनी समूह से संवृत रहता है''।

अर्थात् यह सत्त्व (प्राणी का देह) ही सर्वबुद्धमय होने पर वज्रसत्त्व हो जाता है। यह स्वयम्भू है इसे कोई उत्पन्न नहीं करता, क्योंकि प्राणियों का स्वभाव दुरतिक्रम (जिसमें परिवर्तन लाना कठिन है) होता है। वे नाना प्रकार के कर्म करते हैं और नाना प्रकार के फलों की आकांक्षा करते हैं इसलिये उसी के अनुसार उनका शरीर बन जाता है। बुद्ध वज्रधर आदि इस प्रक्रिया को जान चुके होते हैं इसीलिये वे सब सत्त्वों में उत्तम कहे जाते हैं। यह एक ऐसी विचित्र माया है जो डाकिनी समूह से संवृत रहती है।

रहस्ये—रहस्य का क्या अर्थ है? ''रहसो भावः रहस्यम्, तस्मिन्'' यह विग्रह है। रहस् शब्द से ज्ञान, चित्त, वाक्, काय और श्मशान ये पाँच लिये जाते हैं। ये ही पाँच चक्रवर्तिनी सवीरा और निर्वीरा 37 योगिनी अर्थात् तथागत काय के नाडीचक्र के रूप में रहती हैं, ये डाकिनी[1] स्वभाव की हैं वे ही बोधिपाक्षिक धर्मस्वभाव की हो जाती है। ये नाड़ियाँ हृदय, शिर आदि कायद्वारों में रहती हैं। ये ही पाँच मार्ग हैं जिनके द्वारा सम्यक्सम्बोधि तक पहुँचा जा सकता है। अतः किसी भी सम्यक्सम्बोधि की कामना करनेवाले व्यक्ति को सर्वप्रथम इन पाँच मार्गों को अच्छी प्रकार जान लेना चाहिये। ये हैं—

1. संभार' मार्ग, 2. प्रयोग मार्ग, 3. दर्शन मार्ग, 4. भावना मार्ग और 5. अशैक्ष मार्ग। 4 स्मृत्युपस्थान, 4 सम्यक् प्रहाण और 4 ऋद्धिबल ये 12 धर्म संभार मार्ग के हैं। 5 इन्द्रियाँ और 5 बल ये 10 धर्म प्रयोग मार्ग के हैं। 7 बोध्यङ्ग दर्शनमार्ग के हैं। 8. आर्यमार्ग भावना मार्ग के हैं और इन चारों मार्गों के अन्तिम भाग का अन्तिम क्षण पाँचवाँ अशैक्ष मार्ग है।

अब प्रश्न होता है कि ये बोधिपाक्षिक धर्म किसलिये है? बोधि क्या है? धर्म क्या है? और पक्ष्य क्या है। इसके उत्तर में बताते हैं—

बोधि—उस निर्विकल्पक ज्ञान को कहते हैं। जिसके द्वारा समग्रसत्त्वों को आत्मस्वरूप ही जाना जा सकता है। यह दो प्रकार की होती है—प्रादेशिकी और व्यापिका। पुद्गलनैरात्म्यलक्षणा श्रावकबोधि प्रादेशिकी कहलाती है, क्योंकि इसमें धर्मों को द्रव्यरूप से मानने के कारण स्वार्थमात्र की प्रधानता होती है, इसलिये प्रदेशमात्र में रहने से यह अविशुद्ध रहती है इसी से प्रादेशिकी कहलाती है। उभयनैरात्म्यलक्षणा बोधि सम्यक्सम्बोधि व्यापक होने से व्यापिका कहलाती है। इसमें धर्मों को लक्ष्यभाव से ग्रहण किया जाता है। इस तत्त्वावबोधि को अभिव्यक्त करने वाले उपाय ही **पक्ष्य** अर्थात् बोध्यङ्ग कहे जाते हैं।

धर्म—उपर्युक्त पंचमार्गस्थ बोधिसत्त्वों द्वारा चित्त में धारण किये जाते हैं, इसलिये इन्हें धर्म कहते हैं। इनका कुशलपक्ष ही लिया जाता है और मार्गभेद से कुशलता का आश्रव धारण कर्ता की योग्यता पर निर्भर करता है। इन पाँच मार्गों के दो प्रकार होते हैं—लौकिक और लोकोत्तर। लौकिक मार्ग में 22 धर्म होते हैं—4 स्मृत्युपस्थान, 4 सम्यक्

---

1. ''डै वैहायसगमने'' धातु से डाकिनी शब्द बनता है, जिसका अर्थ होता है 'गमनशील'।

प्रहाण, 4 ऋद्धिबल, 5 इन्द्रियाँ और 5 बल। लोकोत्तर मार्ग में 15 धर्म होते हैं—7 बोध्यङ्ग और 8 आर्यमार्ग। इस प्रकार दोनों मिलकर इनकी संख्या 37 होती है। इनका विवरण इस प्रकार है—

4 स्मृत्युपस्थान—शून्यता की अनुस्मृति के समीप (उप) में चित्त को स्थापन करना स्मृत्युपस्थान कहलाता है। इसके 4 भेद हैं—**1. कायानुस्मृत्युपस्थान**—यह सर्वकाय-स्वपरसन्तानवर्ती होने से त्रैधातुक है अतः एक नहीं हो सकता, क्योंकि पाक-अपाक, राग-अराग आदि दोषों के कारण अवयवी की सिद्धि नहीं होती। एकत्व सिद्ध न होने के कारण परमाणुओं के भिन्न-भिन्न होने से या उनके इकट्ठा होने पर बनने से विश्व की परमाणुता होने लगेगी, अतः उभय धर्मरहित होने से यह काय शून्य है, ऐसी जो अनुस्मृति है उसके उप (समीप) में चित्त को स्थापित करना कायानुस्मृत्युपस्थान कहलाता है। **2. वेदनानुस्मृत्युपस्थान**—सुखदुःखादि वेदना षड् विज्ञान कायों के आश्रित होती है। इसके अतीत आदि भेद न होने से ये भी शून्य ही हैं, अतः इस स्मृति का चित्त में उपस्थापन वेदनानुस्मृत्युपस्थान कहलाता है। **3. चित्तानुस्मृत्युपस्थान**—ज्ञेय से पहिले या पीछे सहभाविता सिद्ध न होने से चित्त भी शून्य ही है, अतः यह जो उपस्थान है वह चित्तानुस्मृत्युपस्थान कहलाता है। **4. धर्मानुस्मृत्युपस्थान**—कुशलता और अकुशलता की स्पष्टता-अस्पष्टता न होने के कारण धर्म भी शून्य ही है। अतः इस स्मृति का चित्त में उपस्थापन धर्मानुस्मृत्युपस्थान कहलाता है।

4 सम्यक् प्रहाण—1. अनुत्पन्न कुशल धर्मों का उत्पाद अर्थात् अनादिकाल से प्रवृत्त भवसन्तति में उत्पन्न अकुशल (पाप) धर्मों का प्रहाण करके लौकिक कुशल धर्मों में परिवर्तित करने का प्रयत्न करना पहिला सम्यक् प्रहाण है। 2. उत्पन्न कुशल धर्मों का ह्रास न होने पावे वे सुरक्षित रहें और उनमें वृद्धि हो, इसका प्रयत्न करना दूसरा सम्यक् प्रहाण है। 3. उत्पन्न अकुशल धर्मों (पापधर्मों) का प्रहाण (त्याग) करना तीसरा सम्यक् प्रहाण है। 4. अकुशल धर्म आगे उत्पन्न ही न होने पावे, ऐसा प्रयत्न करना चौथा सम्यक् प्रहाण है।

4 ऋद्धिपाद—ऋद्धि का अर्थ है आगे बढ़ना, 'अर्धनमृद्धिः' ऐसा पाणिनि के धातुपाठ में आया है। पाद का अर्थ है उपाय। जैसे मार्ग में चलने के लिये पाद (पैरों) का प्रयोग होता है वैसे ही इस (संभार) मार्ग में आगे बढ़ने के लिये बुद्ध के दश वैशारद्यादि गुणों की जिन उपायों से वृद्धि होती है वे ऋद्धिपाद कहलाते हैं। इनमें छन्दःसमाधि के प्रहाण योग्य संस्कारयुक्त पहला **छन्द ऋद्धिपाद**, वीर्यसमाधि के प्रहाण योग्य संस्कारयुक्त

दूसरा **वीर्य ऋद्धिपाद**, मीमांसा समाधि के प्रहाण युक्त तीसरा **मीमांसा ऋद्धिपाद** और चित्तसमाधि के प्रहाण युक्त चौथा **चित्त ऋद्धिपाद** कहलाता है।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि इन समाधियों के 6 दोष होते हैं—कौशीद्य, आलम्बन, संप्रमोष, अलस, औद्धत्य और अयत्न। ये प्रहाण में अकेले काम नहीं करते, एक मुख्य होता है दूसरा उसका सहायक, इसलिये इन्हें 5 ही माना जाता है। इनके प्रहाणों के आठ संस्कार होते हैं—श्रद्धा, छन्द, वीर्य, प्रस्रब्धि, स्मृति, संप्रजन्य, चेतना और उपेक्षा, इन आठ प्रकार के संस्कारों के द्वारा समाधि से सम्बन्धित दोषों का प्रहाण कर समाधि एवं एकाग्रता की प्राप्ति की जाती है, जिसके बल से ऋद्धि की प्राप्ति की जाती है। अतः छन्द, वीर्य, मीमांसा और चित्त या समाधि, ये चार ऋद्धिप्राप्ति के चार पाद (पैर) सदृश कहलाते हैं।

5 इन्द्रियाँ—इन्द्रिय शब्द 'इदि परमैश्वर्ये' धातु से रन् प्रत्यय होकर इन्द्र और 'इन्द्रस्य लिङ्गम्' इस अर्थ में 'घन्' प्रत्यय होकर घ को इय् आदेश होकर बनता है। इसका अर्थ होता है सामर्थ्यवान्। जैसे चक्षु आदि इन्द्रियाँ अपने विषयों रूप रसादि के ग्रहण की सामर्थ्य रखती हैं वैसे ही ये श्रद्धादि भी कुशल धर्मों में प्रवृत्त करने की सामर्थ्य रखती है इसलिये इन्हें इन्द्रिय कहा गया है। ये पाँच हैं—1. **श्रद्धेन्द्रिय**—भावी लोकोत्तरमार्ग में सत्त्व का रत्नत्रयादि में जो चित्त का संप्रत्यय होता है उसे श्रद्धेन्द्रिय कहते हैं। 2. **वीर्येन्द्रिय**—श्रद्धेन्द्रिय में प्रयुक्त होने वाले धर्मों के प्रयत्न में जो सहायक हो उसे वीर्येन्द्रिय कहते हैं। इसके चार प्रकार हैं—आरम्भ वीर्य, परिक्रम वीर्य, प्रत्यवेक्षा वीर्य और प्रतिपत्ति वीर्य। 3. **स्मृतीन्द्रिय**—वीर्येन्द्रिय द्वारा प्रयुक्त धर्मों का जिसमें बार-बार स्मरण होता है ताकि वे भुलाये न जा सकें, उसे स्मृतीन्द्रिय कहते हैं। 4. **समाधीन्द्रिय**—स्मृतीन्द्रिय द्वारा स्थापित धर्मों को सम्पूर्ण रूप से विना किसी परिहार के मन में स्थापित रखा जाता है उसे समाधीन्द्रिय कहते हैं। 5. **प्रज्ञेन्द्रिय**—समाधीन्द्रिय द्वारा स्थापित धर्मों की जिसमें बार-बार प्रत्यवेक्षा की जाती है, उसे प्रज्ञेन्द्रिय कहते हैं।

5 बल—ये ही 5 (श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा) जब अश्रद्धा, कौशीद्य, विस्मृति, विक्षेप और अमनसिकार रूप दौष्प्रज्ञ से निवृत्त हो जाते हैं तो इन्हें **बल** कहा जाता है। ये 10 (पाँच इन्द्रियाँ और पाँच बल) प्रयोगमार्ग में आते हैं।

7 बोध्यङ्ग—पहिले बता चुके हैं कि निरावरण ज्ञान ही बोधि है। इसके अङ्ग अर्थात् भाग बोध्यङ्ग कहलाते हैं जो 7 हैं—1. **समाधि संबोध्यङ्ग**—जिस निरावरण ज्ञान से

सत्य (वास्तविकता) चित्त में समाहित होता है उसे समाधि बोध्यङ्ग कहते हैं। **2. वीर्य संबोध्यङ्ग**—जिस ज्ञान से उस समाधि बोध्यङ्ग के विषय में उत्साह होता है उसे वीर्य संबोध्यङ्ग कहते हैं। **3. प्रीति संबोध्यङ्ग**—यह आनन्द अनुभूति है, जो इसी विषय में चित्त को स्थिर कर देते हैं उसे प्रीति संबोध्यङ्ग कहते। **4. प्रस्त्रब्धि संबोध्यङ्ग**—प्रीति संबोध्यङ्ग के द्वारा जो काय-वाक्-चित्त के कर्मों में क्लेश और ऊष्मा का प्रहाण होकर शीतलता आती है, काय, वाक्, चित्त पर पूर्ण अथवा नियन्त्रण होता है, जैसा आप चाहें वैसा आप कर सकते हैं या स्थित रख सकते हैं। वह प्रस्त्रब्धि संबोध्यङ्ग है। **5. धर्मप्रविचय संबोध्यङ्ग**—जिस बोधि या ज्ञान से सम्यग्भाव के स्वरूप का बोध हो जाता है, वह धर्मप्रविचय बोध्यङ्ग है। **6. स्मृति संबोध्यङ्ग**—उक्त धर्मप्रविचय बोध्यङ्ग में जब चैतस्य का संप्रमोष हो जाता है तब उसे स्मृति संबोध्यङ्ग कहते हैं। **7. उपेक्षा संबोध्यङ्ग** समाधि में आसक्ति या अनासक्ति से उदासीन हो जाना उपेक्षा संबोध्यङ्ग है। ये 7 संबोध्यङ्ग दर्शन मार्ग के हैं जो क्लेशावरण के प्रतिपक्षी हैं।

8 आर्यमार्ग—निम्नलिखित आठ अङ्ग भावना मार्ग के हैं—

1. सम्यग्दृष्टि—उभय धर्म निःस्वभाव है, ऐसी बुद्धि और परलोक के अस्तित्व पर आस्था सम्यग्दृष्टि कहलाती है।

2. सम्यक् संकल्प—सम्यग्दृष्टि को दूसरों में बाँटने की इच्छा सम्यग् संकल्प है।

3. सम्यग्वाक्—स्वदृष्ट अर्थ की वास्तविक रूप में दूसरों को देशना देना सम्यग्वाक् है।

4. सम्यक्कर्मान्त—जिनका परिणाम अन्त में शुभ ही हो, ऐसे ऋद्ध्यादि काय कर्मों द्वारा सब को शिक्षित करना और बुरे कर्मों में लगे सत्त्वों को दुष्प्रवृत्ति छोड़ने के लिये त्रस्त करना सम्यक्कर्मान्त कहलाता है।

5. सम्यगाजीव—जिससे ध्यान में विघ्न न हो आवश्यकतानुसार उतनी ही वस्तुओं का न्यायपूर्वक संग्रह करना सम्यगाजीव कहलाता है।

6. सम्यग्व्यायाम—सभी ईर्यापथों (स्थान, निषिध्या, चंक्रम, शय्या अर्थात् उठना, बैठना, घूमना और सोना) में स्वचित्त काय, वाक् और चित्त व्यापार का सम्यग् नियोजन एवं चारों अनुस्मृतियों का निरन्तर स्मरण कर तृष्णा का समूल नाश कर निर्वाणगामी बनना है। अर्थात् व्यायाम उद्योग है, अकुशल का त्याग, कुशल कर्मों को करने की दृढ़ इच्छा ही सम्यग्व्यायाम है।

7. सम्यक्स्मृति—चारों अनुस्मृतियों का निरन्तर स्मरण और पर्यवेक्षण करते हुए तृष्णा का समूल नाश कर निर्वाणगामी बनना सम्यक्स्मृति है।

8. सम्यक् समाधि—सामान्य सम्यग्दृष्टि द्वारा प्रतिपादित तत्त्व में स्थित होना सम्यग् समाधि है। तन्त्र की सम्यग् दृष्टि सत्त्व और भाजन लोक दिव्य इष्ट देव के रूप में स्थित होना है। अतः सम्यग् समाधि भी वही होगी।

इस प्रकार ये 37 बोधिपाक्षिक धर्म ही, जो योगिनी स्वभाव के हैं और हृदय, शिर आदि नौ काय द्वारों में रहते हैं आध्यात्मिक साधना में नाड़ियों के रूप में तथा बाह्यसाधना में ये मुख, वर्ण, भुज, आयुध आदि से युक्त डाकिनी आदि के रूप में मण्डल में स्थापित की जाती हैं, जो इस प्रकार हैं—

स्मृत्यादि 4 उपस्थान क्रमशः डाकिनी, लामा, खण्डरोहा और रूपिणी के रूप में। 4 सम्यक् प्रहाण क्रमशः यमदाढ़ी, यमदूती, यमदंष्ट्रिणी और यममथनी के रूप में। 4 छन्दादि ऋद्धिपाद क्रमशः प्रचण्डा, चण्डाक्षी, प्रभावती और महानासा के रूप में। 5 श्रद्धादि इन्द्रियाँ क्रमशः वीरमती, खर्वरी, लङ्केश्वरी और दुमच्छाया के रूप में। 5 श्रद्धादि बल क्रमशः महाभैरवी, वायुवेगा, सुराभक्षी, श्यामादेवी और सुभद्रा के रूप में। 7 संबोध्यङ्ग क्रमशः हयकर्णा, खगानना, चक्रवेगा, खण्डरोहा, शौण्डिनी, चक्रवर्मिणी और सुवीरा के रूप में। 8 सम्यग्दृष्ट्यादि आर्याङ्ग क्रमशः महाबला, चक्रवर्तिनी, महावीर्या, काकास्या, श्वानास्या, शूकरास्या और श्रीहेरुकरूप में।

यही रहस्य है जिसे प्रत्येक बोधिमार्ग में प्रवृत्त होने वाले जिज्ञासु को पूर्ण रूप से अवश्य जानना और समझ लेना चाहिये, क्योंकि वही परम और रम्य है।

परमे—परं='यत्किञ्चित् तत्सर्वं मात्यस्मिन्' अर्थात् जो कुछ भी है वह सब जिसमें समा जाता है वही परम अर्थात् सर्वश्रेष्ठ सुख है। अथवा 'परे=शत्रवः (क्लेशाः) मीयन्ते लघूक्रियन्ते येन तत् परमं सुखं (निर्वाण या मोक्ष) है।

रम्ये—वही रम्यं-'रम्यते यस्मिन् तत्, तस्मिन्' अर्थात् इतना रमणीय है कि सत्त्व को उससे अधिक सुन्दर कुछ नहीं प्रतीत होता। जैसे माया एक प्रतिभास मात्र होने पर भी व्यक्ति उसमें आसक्त हो जाता है यह तो वास्तविक है।

•

भूतडामरतन्त्रस्थ मुद्राएँ

—जनार्दन पाण्डेय—

[केवल बौद्ध या बौद्धेतर तन्त्रों में ही नहीं, प्रत्युत सामान्य पूजाओं में भी मुद्राओं का प्रदर्शन आवश्यक है, क्योंकि मुद्राएँ पूजा की प्रतीक मानी जाती हैं। यहाँ तक कि प्रत्येक उपनीत व्यक्ति के लिए जो गायत्री जप अवश्य कर्तव्य है उसमें भी जप से पूर्व सुमुख सम्पुट आदि २४ मुद्राएँ और जप के बाद ८ मुद्राएँ प्रदर्शित की जाती हैं। हमने धी: के अंक 1, 3, 5, 8, 9 और 10 अंकों में प्राप्त बौद्ध तन्त्रों में प्रदर्शित मुद्राओं के लक्षण प्रकाशित किये थे। इसी सातत्य में प्रस्तुत अंक में 'भूतडामरतन्त्र' में आई हुई मुद्राओं के लक्षण प्रकाशित किये जा रहे हैं।]

अष्टभूतिनीसाधनमुद्राः

वामहस्तेन दृढ़मुष्टिं कृत्वा मध्यमां तु प्रसारयेत्।
श्रीबाह्यतर्जनी मुद्रा उत्तमा **कुलसाधनी** ।। 1।।

अनेनान्यमुष्टिसंयुक्तां तर्जनीं तु प्रसारयेत्।
सिद्ध्यन्ते भूतभूतिन्यस्तत्क्षणं **समयपालिनी (काः)**।। 2।।

वामहस्तेन दृढमुष्टिं अथवा संयुक्तं तर्जन्यौ तु प्रसारयेत्।
सिद्ध्यन्ते भूतभूतिन्यस्तत्क्षण**मात्मसमयपालिनी**।। 3।।

वामहस्तदृढमुष्टिमधः कृत्वा कनिष्ठिकां तु प्रसारयेत्।
सान्निध्यकरणी मुद्रा सिद्धिभूतानुसारिणी।। 4।।

प्रसारयेद् वामहस्तं तर्जनीं कुण्डलिं कृत्वा ज्येष्ठाङ्गुष्ठेनावष्टभ्य
सर्वभूतवशंकरी मुद्रा।। 5।।

वामहस्तेन मुष्टिं कृत्वा अनामिकां तु प्रसारयेत्।
आकर्षयेत् सर्वभूतिनी **सर्वविघ्नविनाशिनी**।। 6।।

वामहस्तेन मुष्टिं कृत्वा ज्येष्ठाङ्गुलिं प्रसारयेत्।
भूतिन्यभिमुखी दुर्गा **सर्वदुष्टभयंकरी**।। 7।।

वामहस्तेन मुष्टिं बद्ध्वा कन्यकां तु प्रसारयेत्।
भूतिनी समयीमुद्रा सर्वकृत् सार्वकामिकी।। 8।।

उभाभ्यां षट्कं कृत्वा पृथक् पृथक् दक्षिणहस्तं दक्षिणकट्यां न्यसेत् वामहस्तं दक्षिणे स्थाप्य परमहृदयं **सर्वभूतिनीसमयमुद्रा**।। ८।।

महाश्मशानप्रवेशिनी मुद्रा

अन्योन्यमुष्टिं कृत्वा तर्जनीद्वयं प्रसारयेत्। **भूतिनीसमयमुद्रा**।। 1।।

अनयैव मुद्रया आवाहनं कुर्यात्। अष्टौ श्मशानप्रवेशिनी **कर्मपिशाचिनीमुद्रा** भवति।। 2।।

वामहस्तमुष्टिं कृत्वा तर्जनीस्तु प्रसारयेत्। अन्योन्यमुष्टिं कृत्वा कनिष्ठाद्वयं वेष्टयेत्। तर्जनीद्वयं प्रसार्य वक्त्रदेशे नियोजयेत्। **दंष्ट्राकरालिनीमुद्रा**।। 2।।

वामहस्तमुष्टिं कृत्वा मध्यमां तु प्रसारयेत्। **जर्ज्जरमुखी मुद्रा**।। 3।।

अनयैव मुद्रया मध्यमां भग्नां कृत्वाऽनामिकां प्रसारयेत्। **कमललोचनीमुद्रा**।। 4।।

अस्यामेव मुद्रायाम् अनामिकां प्रवेश्य कनिष्ठां प्रसारयेत्। **विकटमुखीमुद्रा**।। 5।।

दक्षिणकरमुष्टिं कृत्वा तर्जनीं प्रसारयेत्। **धुधारी मुद्रा**।। 6।।

अस्यामेव मुद्रायां तर्जनीं कृत्वा मध्यमां प्रवर्तयेत्। **विद्युत्करालीमुद्रा**।। 7।।

दक्षिणहस्तमुष्टिं कृत्वा कनिष्ठां प्रसारयेत्। **सौम्यमुखीमुद्रा**।। ८।।

अष्टमहाकात्यायनी मुद्रा

अन्योन्याङ्गुलिमावेष्ट्य तर्जनीं प्रसार्य कुञ्चयेत्। **मूलकात्यायनीमुद्रा**।। 1।।

अन्योन्यान्तरितं कृत्वा तर्जनीद्वयं कुञ्चितम्। **महाकात्यायनीमुद्रा**।। 2।।

अस्यामेव मुद्रायां मध्याङ्गुलिमुखसंगतां कनिष्ठां प्रवेश्य सर्वभूतिनीमारणकुलनाशन-साधकप्रियकुलभूतश्चेति। **रौद्रकात्यायनीमुद्रा**।। 3।।

अस्यामेव बद्धमुद्रायां शीघ्रं सिद्ध्यति भूतिनी (यदि) मूर्ध्नि पृथक्-पृथक् तर्जनीं प्रसारयेत्। **भद्रकात्यायनीमुद्रा**।। 4।।

उभौ (भे) मुष्टी दृढीकुर्यात् तर्जनीद्वयं वेष्टयेत्। **भूतिनीबन्धकुण्डलकात्यायनी मुद्रा**।। 5।।

तथैवाक्षिस्फोटनी, चण्डकात्यायनी, महासर्वभूतिनीसाधनमुद्रा।। 6।।

ततो **मुद्राकुलनेत्रसाधनी जटामुखी कात्यायनीमुद्रा**।। 7।।

अन्योन्यमुष्टिं कृत्वा कनिष्ठाद्वयं वेष्टयेत्। प्रसार्य तर्जन्यङ्गुल्यौ कुण्डलिनी (कुर्यात्), इति **त्रैलोक्याकर्षिणी** सर्वभूतवशंकरी मुद्रा।। 8।।

महामण्डलमुद्रा

अन्योन्याङ्गुलिं बद्ध्वा तर्जनीद्वयं प्रसारयेत्। तर्जनीशु(सू)चीकृत्वा **पद्मासनमुद्रा**।। 1।।

अन्योन्यमुष्टिं कृत्वा तर्जनीद्वयं वेष्टयेत्। **क्रोधावेशमहामुद्रा**।। 2।।

षडङ्गमुद्रा

अन्योन्यमुष्टिं कृत्वा मध्यमाङ्गुल्यौ प्रसारयेत्। **शिरोमुद्रा**।। 1।।

अस्यामेव मुद्रायां मध्यमाङ्गुल्यौ प्रवेशयेत् तर्जनी सूचीकृत्वा। **शिखामुद्रा**।। 2।।

अस्यामेव मुद्रायामङ्गुष्ठौ पार्श्वतः दक्षिणाङ्गुष्ठं दक्षिणनेत्रे वामाङ्गुष्ठं वामनेत्रे प्रवेशयेत्। **नेत्रमुद्रा**।। 3।।

अन्योन्यमुष्टिं कृत्वा कनिष्ठाद्वयं वेष्टयेत् तर्जनी प्रसारयेत्। **हृदयमुद्रा**।। 4।।

अस्यामेव मुद्रायां तर्जनीकुण्डलीकृत्वा। **कवचमुद्रा**।। 5।।

अस्यामेव मुद्रायां तर्जनी प्रसारयेत्। **अस्त्रमुद्रा**।। 6।।

अन्यमुद्रा

उत्तानमञ्जलिं कृत्वा ज्येष्ठाङ्गुष्ठौ च पार्श्वतः। **अर्घमुद्रा**।। 1।।

अन्योन्यमुष्टिं कृत्वा अङ्गुष्ठौ प्रसारयेत्।। **आक्षेपमुद्रा**।। 2।।

अन्योन्यमुष्टिं कृत्वा पृथक् पृथक् वामतर्जनी प्रसार्य बाहुमूले स्थापयेत्। दक्षिणाङ्गुष्ठेन कनीयसीनखमाक्रम्य शेषाङ्गुलिं प्रसार्य दक्षिणबाहुमूले निक्षिपेत्। **दिशाबन्धमुद्रा**।। 3।।

उत्तानमञ्जलिं कृत्वा तर्जन्यनामिके भग्नीकुर्यात्। **रुद्रस्य भग्नमुद्रा**।। 1।।

उत्तानमञ्जलिं कृत्वा तर्जनीद्वयं वेष्ट्याकुञ्चयेत्। **नारायणस्य शंखमुद्रा**।। 2।।

अन्योन्याङ्गुलिं वेष्ट्य कनिष्ठां प्रसारयेत्। **प्रजापतेः कमण्डलुमुद्रा**।। 3।।

वामहस्तमुष्टिं कृत्वा मध्यमाङ्गुलिं प्रसारयेत्। **क्रौंचमथनशक्तिमुद्रा**।। 4।।

वामहस्तमुष्टिं कृत्वा तर्जनीमध्यमाङ्गुल्यौ प्रसारयेत्। तर्जनीं संकोच्य मध्यमामध्यपर्वं धारयेत्। **गणपतेः परशुमुद्रा**।। 5।।

उत्तानमञ्जलिं कृत्वा स्वस्तिकं तत्र कारयेत्। वामकनीयसीं भग्नीकृत्य अङ्गुष्ठं मूर्ध्नि स्थापयेत्। वामाङ्गुष्ठं वाममूर्ध्नि दक्षिणाङ्गुष्ठं दक्षिणमूर्ध्नि। **आदित्यस्य मुद्रा**।। 6।।

दक्षिणहस्तं प्रसार्य तर्जन्यनामिके भग्ने कृत्वा **राहुमुद्रा**।। 7।।

दक्षिणहस्तं नखाकारं कृत्वा मूर्ध्नि स्थाप्य वामहस्तमुष्टिं कृत्वा तर्जनीं मध्यमां च प्रसारयेत्। ज्येष्ठाङ्गुष्ठेन कनीयसीमनामिकां च नखेनाकर्षयेत्। **नटेश्वरमुद्रा**।। 8।।

अन्योन्यमुष्टिं कृत्वा पृथक् पृथक् कनीयसीं वेष्टयेत्। **चन्द्रस्य मुद्रा**।। 9।।

उभयोर्हस्तयोः भोगाकारेण संदर्शं कृत्वा मूर्ध्नि स्थापयेत्। **उमादेवीमुद्रा**।

सम्पुटाञ्जलिं आकाशदेशे क्षिपेत्। **श्रीदेवीमुद्रा**।

अन्योन्यमुष्टिं कृत्वा तर्जनीं वेष्टयेत्। शेषान् दीपशिखाकारेण भ्रामयेत् नृत्ययोगेन। **शशिदेवीमुद्रा**।

अन्योन्यमुष्टिं कृत्वा तर्जनीद्वयं प्रसारयेत्। तर्जनीं रत्नाकारेण ललाटदेशे स्थाप्यमाबन्धतः। **रत्नभूषिणीमुद्रा**।

अन्योन्याङ्गुलिं वेष्ट्य तर्जनीद्वयं प्रसार्य मुखे स्थापयेत्। **सरस्वतीमुद्रा**।

अन्योन्याङ्गुलिमन्तरितं कृत्वा अञ्जलिं शिरसि धारयेत्। **तिलोत्तमामुद्रा**।

अन्योन्यहस्तं षट्(कोणा)कारेण हृदये स्थापयेत्। **रम्भाया मुद्रा**।

अन्योन्यमुष्टिं कृत्वा कनिष्ठाद्वयं प्रसारयेत् पुनः कनिष्ठां कुण्डलयेत्। **सर्वयक्षेश्वरी सुरसुन्दरीमुद्रा**।

अन्योन्यमुष्टिं कृत्वा कनिष्ठाद्वयं वेष्टयेत् तर्जनीं कुण्डलयेत्। **भूतिनीमुद्रा**।

अन्योन्यमुष्टिं कृत्वा तर्जनीद्वयं वेष्टयेत्। **भूतेश्वरीभूतराज्ञीमुद्रा**।

इति महामण्डलमुद्रा

दक्षिणहस्तमुष्टिं कृत्वा ज्येष्ठाङ्गुष्ठेन कन्यकाया नखमाक्रम्य शेषाङ्गुलिं विचलां कुर्यात्। **इन्द्रस्य मुद्रा**।

वामहस्तमुत्तानं कृत्वा किञ्चिच्चार(ल)येत्। **अग्निमुद्रा**।

दक्षिणहस्तमुष्टिं कृत्वा तर्जनीं प्रसारयेत्। **यमस्य दण्डमुद्रा**।

दक्षिणहस्तमुष्टिं कृत्वा तर्जनीं मध्यमां प्रसारयेत्। **राक्षसाधिपस्य खड्गमुद्रा**।

वामहस्तमुष्टिं कृत्वा तर्जनीं प्रसारयेत् तर्जनीं कुण्डलिं कृत्वा **वरुणस्य नागमुद्रा**।

वामहस्तमुष्टिं कृत्वा सव्यार्धमुष्टिं कृत्वा तर्जनीं मध्यमां प्रसारयेत्। **वायोः पताकामुद्रा**।

दक्षिणहस्तमुष्टिं कृत्वा कन्यसीनखमाक्रम्य शेषाङ्गुलिं प्रसारयेत्। **ईश्वरस्य त्रिशूलमुद्रा**।

सम्पुटाञ्जलिं कृत्वा **पूर्णमुद्रा**।

अन्योन्यमुष्टिं कृत्वा कनिष्ठाद्वयं वेष्टयेत्। तर्जनीं प्रसार्य कुण्डलिं कृत्वा **सिद्ध्याकर्षणमुद्रा** भवति।

वामहस्तमुत्तानं कृत्वा ज्येष्ठाङ्गुलिं समुच्छ्रितं कुर्यात् दक्षिणहस्तमुष्टिना वामाङ्गुष्ठं गृह्णीयात् दक्षिणाङ्गुष्ठमुच्छ्रित्य अपराजितमाक्रम्य **वज्रधरभूतासनमुद्रा**।

सम्पुटाञ्जलिं कृत्वा सर्वाङ्गुलिसमाञ्जलिः **पद्ममुद्रा, विसर्जनमुद्रा वा,**

अन्योऽन्यमुष्टिं कृत्वा कनिष्ठाद्वयं प्रसारयेत्। **क्रोधराजमुद्रा**।

तर्जनीद्वयं प्रसार्य कुञ्चयेत् अप्रतिहता **क्रोधाङ्कुशमुद्रा**।

समकरतलानि कृत्वा मध्यमाङ्गुल्या पुनर्विपरीतमनामिकां बाह्यमवस्थाप्य तर्जनीमपि निवेश्य कनिष्ठागर्भसहिता **सर्वयक्षिणीनां परमुद्रा**।

अनयैव मुद्रया दक्षिणाङ्गुष्ठेन **आवाहनमुद्रा**।

अन्योन्यमुष्टिं कृत्वा कनिष्ठां प्रसार्याकुञ्चयेत्। **सान्निध्यकरणीमुद्रा**।

अन्योन्यहस्तं षट्कोणाकारेण स्थापयेत्। **हृदयमुद्रा**।

अन्योन्यमुष्टिं कृत्वा तर्जनीं मध्यमां च प्रसारयेत्। **पुष्पधूपदीपमुद्रा**।

उत्थानमञ्जलिं कृत्वा उत्थाय मध्याङ्गुल्यौ शिखराकारेण योजयेत्। तर्जनीं नखसंगतां कृत्वा द्वावङ्गुष्ठौ निसृतौ। **नागिनीसमयमुद्रा**।

वामदक्षिणमुष्टिं कृत्वा पृथक् पृथक् कनिष्ठानखं ज्येष्ठेनाक्रम्य शेषाङ्गुलिं प्रसारयेत्। **सर्वनागिनीवशङ्करीसमयमुद्रा**।

अष्टौ भूतिनीमुद्रा

अन्योन्यमुष्टिं कृत्वा तर्जन्या वेष्टयेत्। **सिंहध्वजमुद्रा**।

दक्षिणहस्तमुष्टिं कृत्वा तर्जनीप्रसार्याकुंचयेत्। **अङ्कुशमुद्रा**।

अन्योन्यमुष्टिं कृत्वा तर्जनी प्रसार्य वामकटिदेशे संस्थापयेत्, **धनुर्बाणमुद्रा**।

वामहस्तमुष्टिं कृत्वा मध्यमां प्रसार्य **चिन्तामणिध्वजमुद्रा**।

उत्थानमञ्जलिं कृत्वा तर्जनीद्वयं कुञ्चयेत्। **पुष्पमुद्रा**।

अन्योन्यमुष्टिं कृत्वा अङ्गुली वेष्ट्य तर्जनीं प्रसारयेत्। **धूपमुद्रा**।

अन्योन्यहस्तं प्रसार्योभे बाहुमूले धारयेत्। **गन्धमुद्रा**।

दक्षिणहस्तमुष्टिमधोमुखं कृत्वा मध्यमाङ्गुलिं प्रसारयेत्। **दीपमुद्रा**।

अष्टौ भूतमुद्रा

अन्योन्याङ्गुली वेष्ट्य मध्यमाङ्गुल्यौ प्रसार्य सूच्याकारेण धारयेत्। **अपराजिता महाभूतराजमुद्रा**।

अनयैव मुद्रया मध्यमाङ्गुल्यौ प्रवेश्य तर्जनी प्रसार्य कुञ्चयेत्। **अजितस्य मुद्रा**।

अनयैव मुद्रया तर्जनीं कुण्डलिं कृत्वा कनिष्ठां पृथक् पृथक् प्रसारयेत्। **पूरणस्य मुद्रा**।

अनयैव मुद्रया अन्योन्याङ्गुली आवेष्ट्य **आपूरणस्य मुद्रा**।

अनयैव मुद्रया कनिष्ठिकां सूचीं कृत्वा **ईशाना(श्मशाना)धिपतेः मुद्रा**।

अनयैव मुद्रया अङ्गुष्ठौ पार्श्वतः कृत्वा **भूतेशस्य मुद्रा**।

अनयैव मुद्रया ज्येष्ठाङ्गुष्ठौ मध्ये प्रवेश्य कनिष्ठिकां प्रसार्य पृथक् पृथक् प्रसारयेत्। **कुलेशस्य मुद्रा**।

सम्पुटाञ्जलिं कृत्वा तर्जनीद्वयं कुंचयेत्। **किंकरोत्तमस्य मुद्रा**।



आर्यत्रिरत्नानुस्मृतिसूत्रम्

—ज्ञलछेन नमडोल—

[सर्वश्रेष्ठ पूजनीय त्रिरत्न तो प्राणिमात्र के अविसंवादात्मक परम शरण स्थल है। अत: उनके अद्भुत गुणों का अनुस्मरण करते हुए शरण में जाना वास्तव में परम उपादेय है। भगवान् तथागत तो—बुद्ध, धर्म एवं संघ इन तीनों के स्वरूपात्मक हैं और उसमें शरणगत प्राणिमात्र की रक्षा करने के लिए सभी आवश्यक अद्भुत उपायों से सुसम्पन्न है।

इन त्रिरत्नों की अनुस्मृति करने के लिए काग्युर संग्रह में तीन पृथक् सूत्र प्राप्त होते हैं। ये तीनों सूत्र जैसे वर्तमान में जिस रूप में प्राप्त हैं, उनका यथा स्वरूप प्रारम्भिक काल से ही एक साथ प्रचलित रूप से विद्यमान होने के सन्दर्भ में अनेक विचारणीय तथ्य देखने को मिलते हैं। विशेष करके धर्म और संघ अनुस्मृति सूत्र के विषय में तथ्यपरक परीक्षण की आवश्यकता प्रतीत होती है। अत: यहाँ इन विचारणीय सन्दर्भों पर विहंगम दृष्टि से परीक्षण करते हुए तीनों सूत्रों के मूल भोट पाठ को तुलनात्मक सम्पादन, संस्कृत भाषा में पुनरुद्धार तथा हिन्दी भाषा में अनुवाद के साथ प्रस्तुत किया जा रहा है।]

འཕགས་པ་དཀོན་མཆོག་གསུམ་རྗེས་སུ་དྲན་པའི་མདོ།

(क) मूल भोट-पाठ

(སངས་རྒྱས་རྗེས་སུ་དྲན་པ།)

༄༅། །རྒྱ་གར་སྐད་དུ། ཨཱརྱ་ཏྲི་རཏྣ་ཨནུསྨྲྀ་ཏི་སཱུ་ཏྲ། བོད་སྐད་དུ། འཕགས་པ་དཀོན་མཆོག་གསུམ་རྗེས་སུ་དྲན་པའི་མདོ།[1] སངས་རྒྱས་དང་བྱང་ཆུབ་སེམས་

---

1. བཀའ་འགྱུར་སྣར་མ་རྣམས་སུ་མདོ་ཚན་གསུམ་གྱི་ཚུལ་དུ་བཀོད་ཡོད་ཀྱང་། འདིར་ཀློག་འདོན་གནང་བདེ་བ་སོགས་ཀྱི་དགོས་གལ་ལ་བརྟེན་ནས་འདོན་ཆོག་ཁག་ནང་གསལ་བ་ལྟར་སྐབས་ཅིག་ཏུ་ཉམས་གསོ་དང་ཕབ་བསྒྱུར་བྱས་ནས་བཀོད་ཡོད། གཞུང་འདི་དག་ད་ཡོད་ཀྱི་བཀའ་བསྟན་རྣམས་སུ་ཇི་ལྟར་གསལ་བ་ལྟར་དུ་ཐོག་མ་ཉིད་ནས་ཡོངས་གྲགས་ཀྱི་ཚུལ་དུ་ཡོད་མེད་ཀྱི་སྐོར་ལ་དཔྱད་གཞི་ཆེ་བའི་གནད་དོན་མང་བས། དེ་དག་གི་སྐོར་ཞིབ་པ་ངོ་སྤྲོད་ཀྱི་ནང་བཀོད་ཡོད།

དཔའ་ཐམས་ཅད་ལ་ཕྱག་འཚལ་ལོ། །འདི་ལྟར་[༡]སངས་རྒྱས་བཅོམ་ལྡན་འདས་དེ་ནི་དེ་བཞིན་གཤེགས་པ་དགྲ་བཅོམ་པ་ཡང་དག་པར་རྫོགས་པའི་སངས་རྒྱས། རིག་པ་དང་ཞབས་སུ་ལྡན་པ། བདེ་བར་གཤེགས་པ། འཇིག་རྟེན་མཁྱེན་པ། སྐྱེས་བུ་འདུལ་བའི་ཁ་ལོ་སྒྱུར་བ། བླ་ན་མེད་པ།[༢] ལྷ་དང་མི་རྣམས་ཀྱི་སྟོན་པ་སངས་རྒྱས་བཅོམ་ལྡན་འདས་སོ།[༣] །

དེ་བཞིན་གཤེགས་པ་དེ་ནི་[༤]བསོད་ནམས་དག་གི་རྒྱུ་མཐུན་པ།[༥] དགེ་བའི་རྩ་བ་རྣམས་ཆུད་མི་ཟ་བ། བཟོད་པས་རབ་ཏུ་བརྒྱན་པ། བསོད་ནམས་ཀྱི་གཏེར་རྣམས་ཀྱི་གཞི། དཔེ་བྱད་བཟང་པོ་རྣམས་ཀྱིས་སྤྲས་པ། མཚན་རྣམས་[༦]ཀྱི་མེ་ཏོག་རྒྱས་པ། སྤྱོད་ཡུལ་རན་པར་མཐུན་པ། མཐོང་ན་[༧]མི་མཐུན་པ་མེད་པ། དད་པས་མོས་པ་རྣམས་[༨]མངོན་པར་དགའ་བ། ཤེས་རབ་ཟིལ་གྱིས་མི་ནོན་པ། སྟོབས་

༡. ཇོ་ཆོས་ – འདི་ལྟར་ཡང་།

༢. ལེགས་སྦྱར་ལྟར་ན་ "བླ་ན་མེད་པ་" ཅེས་པ་ "འཇིག་རྟེན་མཁྱེན་པ་" ཞེས་པའི་སྔོན་ལ་བཀོད་ཡོད།

༣. ཇོ་ཆོས་ – འདས་ཏེ།

༤. མདོ་ཉིད་དུ་ "དེ་དག་" ཅེས་གསལ་ཡང་། ལེགས་སྦྱར་གྱི་ཚིག་དོན་བྱེ་བྲག་རྟོགས་བྱེད་དུ་གསལ་བར་གོང་གསལ་ལྟར་ཡོད།

༥. སྡེ་དགེ་བཀའ་འགྱུར་སོགས་སུ་ཚིག་འདིའི་གྲས་གང་དུ་ཡོད་ས་ཚང་མར་ "འཐུན་" ཞེས་གསལ་ཡོད་པ་དེ་དག་བཟ་རྙིང་ངམ་བྲིས་སྐྱོན་གཞན་གང་ཡིན་དཔྱད་པར་བྱའོ། །

༦. མདོར་ – མཚན་གྱི།

༧. སྔོན་གྱི་རྒྱལ་བློན་རྣམས་ཀྱི་བཀས་བཅད་དང་བསྟུན་ན་ "མཐོང་ན་མི་མཐུན་པ་མེད་པ་" ཅེས་ཞི་ས་དང་བཅས་ཏེ་བཀོད་དགོས་པར་མངོན།

༨. འདོན་ཆ་ཁག་ནང་ "དད་པས་མོས་པ་རྣམས་ལ་" ཞེས་ལ་དོན་བཀོད་ཡོད་ཀྱང་། གཞུང་གཞན་དུ་གོང་གསལ་ལྟར་ཡོད་ཅིང་། གལ་ཏེ་ "མངོན་པར་དགའ་བ་" ཞེས་པ་སངས་རྒྱས་ལ་སྦྱོར་རྒྱུ་ཡིན་ན་ "མངོན་

རྣམས་ཀྱིས་བརྗི་བ་མེད་པ།[༡] སེམས་ཅན་ཐམས་ཅད་ཀྱི་སྟོན་པ། བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་རྣམས་ཀྱི་ཡབ། འཕགས་པའི་གང་ཟག་རྣམས་ཀྱི་རྒྱལ་པོ། མྱ་ངན་ལས་འདས་པའི་གྲོང་ཁྱེར་དུ་འགྲོ་བ་རྣམས་ཀྱི་དེད་དཔོན།[༢] ཡེ་ཤེས་དཔག་ཏུ་མེད་པ། སྤོབས་པ་བསམ་གྱིས་མི་ཁྱབ་པ།[༣] གསུང་རྣམ་པར་དག་པ། དབྱངས་སྙན་པ།[༤] སྐུ་བྱད་བལྟ་བས་ཆོག་མི་ཤེས་པ། སྐུ་མཚུངས་པ་མེད་པ། འདོད་པ་དག་གིས་མ་གོས་པ། གཟུགས་དག་གིས་ཉེ་བར་མ་གོས་པ། གཟུགས་མེད་པ་དག་དང་མ་འདྲིས་པ།[༥] ཕུང་པོ་དག་ལས་རབ་ཏུ་རྣམ་པར་གྲོལ་བ། ཁམས་རྣམས་དང་མི་ལྡན་པ། སྐྱེ་མཆེད་རྣམས་བསྡམས་པ། མདུད་པ་རྣམས་ཤིན་ཏུ་བཅད་པ། ཡོངས་སུ་

པར་དགྱེས་པ་" ཅེས་ཞེ་ས་ཅན་དུ་བཀོད་དགོས་སོ། །འདིའི་ཐད་ཀྱི་ཕྱི་བྲག་རྟོགས་ཕྱེད་དུ་གསལ་བའི་ལེགས་སྦྱར་གྱི་ཚིག་དོན་དུ་ "དག་པའི་མོས་པ་རྣམས་" ཞེས་སོགས་གསལ་ཡོད། སྤྱིར་ལེགས་སྦྱར་གྱི་སྐད་དོན་ལྟར་བྱས་ན་ "དག་པའམ་དད་པས་མོས་པ་རྣམས་མངོན་པར་དགའ་བར་འགྱུར་བ་" ཞེས་ཀྱང་བཀོད་ཆོག་པར་མངོན་ནོ། །

༡. བོད་འགྱུར་རྣམས་སུ་ "སྟོབས་རྣམས་ལ་བརྗི་བ་མེད་པ་" ཞེས་གསལ་ཡང་། ཕྱི་བྲག་རྟོགས་ཕྱེད་དུ་བཀོད་པའི་ལེགས་སྦྱར་གྱི་ཚིག་དོན་དང་། སློབ་དཔོན་དབྱིག་གཉེན་གྱི་འགྲེལ་པ་བཅས་སུ་གོང་གསལ་ལྟར་ཡོད།

༢. ཕྱི་བྲག་རྟོགས་ཕྱེད་ཀྱི་ལེགས་སྦྱར་སྐད་དོན་ལྟར་ན་ "ལས་དང་པོ་པ་རྣམས་ཀྱི་དེད་དཔོན་" ཞེས་གསལ་ཡོད།

༣. ཕྱི་བྲག་རྟོགས་ཕྱེད་ཀྱི་ལེགས་སྦྱར་སྐད་དོན་ལྟར་ན་ "སྤོབས་པ་མཐའ་ཡས་པ་" ཞེས་གསལ་ཡོད།

༤. ཛ་ཆོས་ – གསུང་གདངས་སྙན་པ།

༥. སྣར་ཐང་བཀའ་འགྱུར་དུ་འདིའི་ཐད་ "སྡུག་བསྔལ་ལས་རྣམ་པར་གྲོལ་བ་" ཞེས་གསལ་ཡང་། གཞམ་དུ་ "ཡོངས་སུ་གདུང་བ་དག་ལས་རྣམ་པར་གྲོལ་བ་" ཞེས་གསལ་བ་དང་ཉེས་པར་འགྱུར་སྣང་བས་འདིར་དེ་མ་བཀོད་ཀྱང་ཆོག་པར་མངོན།

གདུང་བ་དག་ལས་རྣམ་པར་གྲོལ་བ། སྲིད་པ་[1]ལས་ཡོངས་སུ་[2]གྲོལ་བ། ཆུ་བོ་ལས་བརྒལ་བ།[3] ཡེ་ཤེས་ཡོངས་སུ་རྫོགས་པ།[4] འདས་པ་དང་། མ་བྱོན་པ་དང་། ད་ལྟར་བྱུང་བའི་སངས་རྒྱས་བཅོམ་ལྡན་འདས་རྣམས་ཀྱི་ཡེ་ཤེས་ལ་གནས་པ། མྱ་ངན་ལས་འདས་པ་ལ་མི་གནས་པ། ཡང་དག་པ་ཉིད་ཀྱི་མཐའ་ལ་གནས་པ། སེམས་ཅན་ཐམས་ཅད་ལ་གཟིགས་པའི་ས་ལ་བཞུགས་པ་སྟེ། འདི་དག་[5]ནི་དེ་བཞིན་གཤེགས་པའི་[6]སྐུ་ཆེ་བའི་ཡོན་ཏན་ཡང་དག་པ་རྣམས་སོ།།[7]

(ཆོས་རྗེས་སུ་དྲན་པ།)

དམ་པའི་ཆོས་ནི་[8]ཐོག་མར་དགེ་བ། བར་དུ་དགེ་བ། ཐ་མར་དགེ་བ། དོན་བཟང་པོ། ཚིག་འབྲུ་བཟང་པོ། མ་འདྲེས་པ། ཡོངས་སུ་རྫོགས་པ། ཡོངས་

---

༡. འདོན་ཆོག་ཁག་ཏུ་ "སྲིད་པ་ལས་" ཞེས་གསལ་ཡང་། ལེགས་སྦྱར་གྱི་ཚིག་དོད་དུ་གོང་གསལ་ལྟར་ཡོད།

༢. མདོར་ "ཤིན་ཏུ་གྲོལ་བ་" ཞེས་གསལ་ཡང་། བྱེ་བྲག་རྟོགས་བྱེད་དུ་གསལ་བའི་ལེགས་སྦྱར་གྱི་ཚིག་དོད་དང་། ཇོ་ཆོས་བཅས་སུ་གོང་གསལ་ལྟར་ཡོད།

༣. མདོར་ – རྒལ་པ།

༤. སྣར་ཐང་བཀའ་འགྱུར་ – ཡོངས་སུ་རྟོགས་པ།

༥. ཇོ་ཆོས་ – དེ་དག

༦. སྡེ་དགེ་བཀའ་འགྱུར་སོགས་སུ་ "དེ་བཞིན་གཤེགས་པའི་ཡེ་ཤེས་ཡང་དག་པའི་ཆེ་བའི་ཡོན་ཏན་ཡིན་ནོ།" ཞེས་དང་། ཇོ་ཆོས་སུ་ "དེ་བཞིན་གཤེགས་པའི་སངས་རྒྱས་ཀྱི་ཡོན་ཏན་ཡང་དག་པ་རྣམས་སོ།།" ཞེས་གསལ་ཡོད།

༧. ཇོ་ཆོས་སུ་རྗེས་དྲན་དང་པོའི་ཞབས་ལ་འགྱུར་བྱང་བཀོད་ཡོད་ཀྱང་། མདོ་ཉིད་དུ་གསུམ་ཀར་གསལ་མེད། བུ་སྟོན་ཆོས་འབྱུང་དུ་དེ་དག་གསུམ་ཀ་ཡེ་ཤེས་སྡེས་བསྒྱུར་སྐོར་གསལ་ཡོད་པས་གང་འཐད་དཔྱད་གཞི་ཆེ།

༨. སྡེ་དགེ་བཀའ་འགྱུར་སོགས་སུ་ "དམ་པའི་ཆོས་ནི་ལེགས་པར་གསུངས་པ། ཚངས་པར་སྤྱོད་པ། ཐོག་མར་དགེ་བ་" ཞེས་སོགས་གསལ་ཡོད་ཀྱང་། ཇོ་བོའི་ཆོས་ཆུང་དང་འདོན་ཆོག་རྣམས་སུ་གོང་གསལ་ལྟར་

སུ་དག་པ། ཡོངས་སུ་བྱང་བ། སངས་རྒྱས་བཅོམ་ལྡན་འདས་ཀྱིས་ཆོས་ལེགས་པར་གསུངས་པ།[༡] ཡང་དག་པར་མཐོང་བ།[༢] ནད་མེད་པ། དུས་ཆད་པ་མེད་པ། ཉེ་བར་གཏོད་པ།[༣] འདི་མཐོང་བ་ལ་དོན་ཡོད་པ།[༤] མཁས་པ་རྣམས་ཀྱིས་[༥]སོ་སོ་རང་གིས་རིག་པར་བྱ་བ། བཅོམ་ལྡན་འདས་ཀྱིས་ལེགས་པར་གསུངས་པའི་ཆོས་འདུལ་བ་ལེགས་པར་སྟོན་པ།[༦] ངེས་པར་འབྱུང་བ། རྫོགས་པའི་བྱང་ཆུབ་ཏུ་

ཡོད་པས་དེ་ཉིད་སོར་བཞག་བྱས་སོ། "།ཆོས་ལེགས་པར་གསུངས་པ་" ཞེས་པ་གཞན་དུ་ཡང་གསལ་ཡོད་པས་དཔྱད་འཚལ།

༡. སྡེ་དགེ་བཀའ་འགྱུར་སོགས་སུ་ "སངས་རྒྱས་བཅོམ་ལྡན་འདས་ཀྱིས་ཆོས་འདུལ་བ་ལེགས་པར་གསུངས་པ་" ཞེས་གསལ་ཡང་། ཇོ་བོའི་ཆོས་ཆུང་དང་། འདོན་ཆོག་ཁག་དང་། ཕྱི་སྨག་རྟོགས་བྱེད་དུ་གསལ་བའི་ལེགས་སྦྱར་གྱི་ཚིག་དོད་བཅས་སུ་གོང་གསལ་ལྟར་ཡོད་ཅིང་། "ཆོས་འདུལ་བ་ལེགས་པར་བསྟན་པ་" ཞེས་པ་གཞན་དུ་ཡང་གསལ་ཡོད་དོ།།

༢. སྡེ་དགེ་བཀའ་འགྱུར་སོགས་སུ་ "ཡང་དག་པར་ཐོབ་པ" ཞེས་དང་། དེ་བཞིན་དུ་ "ཚེ་འདི་ལ་མཐོང་འོས་པ་" ཞེས་པ་དང་། "མཐོང་མ་ཐག་ཏུ་ཐོབ་པ་" ཞེས་པའི་དོན་དུ་གོ་བ་ཡང་ཡོད།

༣. སྣར་ཐང་བཀའ་འགྱུར་དུ་ "ཉེ་བར་གཏོང་བ་" ཞེས་དང་། འདོན་ཆོག་ཁག་ནང་ "ཉེ་བར་སྟོན་པ་" ཞེས་གསལ་ཡོད། ལེགས་སྦྱར་ལྟར་ན་ "ཉེ་བར་འདྲེན་པ་" ཞེས་བཀོད་དགོས་པར་སྣང་བས་དཔྱད་གཞི་ཆེ།

༤. འདིའི་ལེགས་སྦྱར་གྱི་སྐད་དོད་ཇི་བཞིན་ཐད་བསྒྱུར་བྱས་ན། འཕགས་པ་ཐོགས་མེད་ཀྱི་འགྲེལ་པར་ "ཚུར་ཤོག་འདིར་ལྟོས་ཤིག་" ཅེས་དང་། དོན་རྣམ་ངེས་ཀྱི་འགྲེལ་པར་ "འདི་ལས་མཐོང་བ་" ཞེས་ཆོས་འདི་ལྟ་བུ་སངས་རྒྱས་པའི་ཆོས་འདི་འབའ་ཞིག་ལ་ཡོད་པར་མཐོང་གིས་མུ་སྟེགས་སོགས་ལྟ་བ་གཞན་ལ་མེད་པའི་དོན་དུ་བསྟན་ཡོད་པས། གོང་གསལ་དེ་ནི་དོན་འགྱུར་དུ་མངོན་ནོ།།

༥. ཇོ་ཆོས་ – རྣམས་ཀྱིས་རིག་པར་བྱ་བ། སྡེ་དགེ་སོགས་སུ་ – རྣམས་ཀྱིས་རང་གིས་རིག་པར་བྱ་བ།

༦. སྡེ་དགེ་སོགས་སུ་ "ཆོས་འདུལ་བ་ལེགས་པར་བསྟན་པ་" ཞེས་དང་། འདོན་ཆོག་རི་བྲང་ནང་ "ཆོས་འདུལ་བ་ལ་ལེགས་པར་རྟོན་པ་" ཞེས་སོགས་མ་འདྲ་བ་མང་བས་དཔྱད་པར་བྱའོ། །

འགྲོ་བར་བྱེད་པ། མི་མཐུན་པ་མེད་ཅིང་འདུས་པ་དང་ལྡན་པ།[༡] རྟོན་པ་དང་ལྡན་པ།[༢] རྒྱུ་བ་བཅད་པའོ།།[༣]

(དགེ་འདུན་རྗེས་སུ་དྲན་པ།)

འཕགས་པའི་དགེ་འདུན་ནི་[༤]ལེགས་པར་ཞུགས་པ། རིགས་པར་ཞུགས་པ། དྲང་པོར་ཞུགས་པ། . མཐུན་པར་ཞུགས་པ།[༥] ཐལ་མོ་སྦྱར་བའི་འོས་སུ་གྱུར་པ། ཕྱག་བྱ་བའི་འོས་སུ་གྱུར་པ།[༦] བསོད་ནམས་ཀྱི་དཔལ་གྱི་ཞིང་།[༧] ཡོན་ཡོངས་སུ་

---

༡. སྡེ་དགེ་སོགས་སུ – མི་མཐུན་པ་མེད་ཅིང་མཐུན་པ་དང་ལྡན་པ།

༢. ཛོ་ཆོས་སུ "རྟེན་ཡོད་པ་" ཞེས་དང་། བྱེ་བྲག་རྟོགས་བྱེད་དུ "བརྟེན་པ་ཡོད་པ་" ཞེས་སོགས་མང་དུ་སྣང་ངོ་།།

༣. སྡེ་དགེ་སོགས་སུ "རྒྱུན་ལམ་ཆད་པའོ།" །ཞེས་གསལ་ཡོད།

༤. ཛོ་བོའི་ཆོས་ཆུང་དུ "ཐེག་པ་ཆེན་པོའི་དགེ་འདུན་" ཞེས་དང་། བྱེ་བྲག་རྟོགས་བྱེད་དུ "བཅོམ་ལྡན་འདས་ཀྱི་ཉན་ཐོས་ཀྱི་དགེ་འདུན་ནི་" ཞེས་དང་། འདོན་ཆོག་ཁག་ཅིག་ཏུ་ཡང་ "ཐེག་པ་ཆེན་པོའི་དགེ་འདུན་" ཞེས་གསལ་ཡོད་ཀྱང་། མདོ་ཉིད་དུ་གོང་གསལ་ལྟར་ཡོད།

༥. སྡེ་དགེ་བཀའ་འགྱུར་སོགས་སུ "མཐུན་པར་ཞུགས་པ། དྲང་པོར་ཞུགས་པ་" ཞེས་གསལ་ཡང་། ཛོ་ཆོས་སོགས་གཞན་ཕལ་ཆེ་བར་དེ་གཉིས་ཀྱི་གོ་རིམ་གོང་གསལ་ལྟར་གསལ་ཡོད། "མཐུན་པར་ཞུགས་པ་" ཞེས་པའི་ཐད་དུ་འཕགས་པ་ཐོགས་མེད་ཀྱི་འགྲེལ་པར "འདུད་པར་ཞུགས་པ་" ཞེས་གསལ་ཡོད།

༦. སྡེ་དགེ་བཀའ་འགྱུར་སོགས་སུ "ཕྱག་འཚལ་བའི་འོས་སུ་གྱུར་པ་" ཞེས་གསལ་ཡོད། པར་མ་གཞན་དུ་ཚིག་འདི "ཐལ་མོ་སྦྱར་བའི་འོས་སུ་གྱུར་པ་" ཞེས་པའི་རྗེས་ལ་བཀོད་ཡོད། ཚིག་ཕྱི་མ་འདིའི་སྐད་དོད་ཐད་བསྒྱུར་བྱས་ན "བསྟོད་པའམ་བསྔགས་པར་འོས་པ་" ཞེས་པར་འགྱུར་རོ།།

༧. སྡེ་དགེ་བཀའ་འགྱུར་སོགས་སུ་འདི་གསལ་མེད།

སྤྱོང་བ་ཆེན་པོ།[1] སྨིན་པའི་གནས་སུ་གྱུར་པ། ཀུན་ཏུའང་སྨིན་པའི་གནས་སུ་གྱུར་པའོ།[2] །འཕགས་པ་དཀོན་མཆོག་གསུམ་རྗེས་སུ་དྲན་པའི་མདོ་རྫོགས་སོ།།[3] །།

•

---

༡. སྡེ་དགེ་བཀའ་འགྱུར་སོགས་སུ "ཡོན་ཏན་ཡོངས་སུ་སྦྱང་བ་ཆེན་པོ། ཡོན་ཡོངས་སུ་སྦྱོང་བ" ཞེས་ཚིག་མ་འདྲ་བ་གཉིས་བཀོད་ཡོད་ཀྱང་། ཇོ་བོའི་ཆོས་ཆུང་དང་འདོན་ཆོག་ཁག་སོགས་སུ་གོང་གསལ་ལྟར་ཚིག་གཅིག་ལས་གསལ་མེད།

༢. སྡེ་དགེ་སྣར་མ་སོགས་སུ "སྨིན་པའི་འོས་སུ་གྱུར་པ། ཀུན་གྱི་སྨིན་པའི་འོས་སུ་གྱུར་པ་ཆེན་པོའོ།" ཞེས་གསལ་ཡོད། དཔེ་གཞན་ཕལ་ཆེ་བར་གོང་གསལ་ལྟར་ཡོད། ཚིག་མཐར་གསལ་བའི "ཆེན་པོ" ཞེས་པ་དཔེ་མང་པོར་གསལ་མེད། ཚིག་ཐ་མ་གཉིས་ཀྱི་ལུགས་སྲོར་སྐད་དོད་དག་ཐད་བསྒྱུར་བྱས་ན "སྨིན་ལ་གནད་འདྲིན་ཞུ་འོས་པ་དང་། མགྲོན་འབོད་ཞུ་འོས་པ" ཞེས་པའི་དོན་ལ་གོ་བ་ཡང་ཡོད།

༣. བུ་སྟོན་ཆོས་འབྱུང་དུ་མཆོག་གསུམ་རྗེས་དྲན་གྱི་ཆོས་ཚན་རྒྱས་བསྡུས་གསུམ་ག་ཡི་ཤེས་སྡེས་བསྒྱུར་སྐོར་འཁོད་ཡོད་ཀྱང་། གཞུང་ངོ་མའི་ཞབས་ལ་བཀའ་འགྱུར་པར་མ་རྣམས་སུ་གཞུང་གསུམ་གར་འགྱུར་བྱང་གདན་ནས་གསལ་མེད། ཡང་ཇོ་བོའི་ཆོས་ཆུང་དུ་སངས་རྒྱས་རྗེས་དྲན་གྱི་ཞབས་ལ་འགྱུར་བྱང་བཀོད་ཡོད་ཀྱང་། གཞན་གཉིས་ལ་བཀོད་མེད། གཞུང་གསུམ་གའི་མཚན་བྱང་གི་དབུར "འཕགས་པ" ཞེས་པའི་ཚིག་དང་། ཞབས་ལ "མདོ" ཞེས་པའི་ཚིག་དག་ཀྱང་འཁོད་མེད། སངས་རྒྱས་རྗེས་དྲན་གྱི་མདོ་འདི་བསྟན་འགྱུར་རྒྱུད་འགྲེལ་ནང་བཞུགས་སྐྱབས་ཐབས་བརྒྱ་རྩའི་ནང་བཀོད་ཡོད་པ་ལྟར་དེ་ལོ་ཙཱ་བ་པ་ཚབ་ཚུལ་ཁྲིམས་རྒྱལ་མཚན་གྱིས་བསྒྱུར་སྐོར་གསལ་ཡོད་ཀྱང་། རྗེས་དྲན་གཞན་གཉིས་འཁོད་མེད་པས་ཞིབ་ཏུ་དཔྱད་པར་བྱའོ། །

आर्यत्रिरत्नानुस्मृतिसूत्रम्

(ख) संस्कृतपाठः

भारतीयभाषायाम्—**आर्यत्रिरत्नानुस्मृतिसूत्रम्**

भोटभाषायाम्—फग्स्-पा-द्कोन्-म्छोग्-ग्सुम्-जेस्-सु-ड्रन्-पाई-म्दो

नमः सर्वबुद्धबोधिसत्त्वेभ्यः

(बुद्धानुस्मृतिः)

इत्यपि बुद्धो भगवांस्तथागतोऽर्हन् सम्यक्संबुद्धो विद्याचरणसम्पन्नः सुगतो लोकविदनुत्तरः पुरुषदम्यसारथिः शास्ता देवमनुष्याणां बुद्धो भगवानिति।

निष्यन्दः स तथागतः पुण्यानाम्, अविप्रणाशः कुशलमूलानाम्, अलङ्कृतः क्षान्त्या, आलयः पुण्यनिधानानाम्, चित्रितोऽनुव्यञ्जनैः, कुसुमितो लक्षणैः, प्रतिरूपो गोचरेण, अप्रतिकूलो दर्शनेन, अभिरतिः श्रद्धा(शुद्धा)धिमुक्तानाम्, अनभिभूतः प्रज्ञया, अनवमर्दनीयो बलैः, शास्ता सर्वसत्त्वानाम्, पिता बोधिसत्त्वानाम्, राजा आर्यपुद्गलानाम्, सार्थवाहः निर्वाणनगरसम्प्रस्थितानाम्, अप्रमेयो ज्ञानेन, अचिन्त्यः प्रतिभानेन, विशुद्धः स्वरेण, आस्वादनीयो घोषेण, असेचनको रूपेण, अप्रतिसमः कायेन, अलिप्तः कामैः, अनुपलिप्तो रूपैः, असंसृष्ट आरूप्यैः, विप्रमुक्तः स्कन्धेभ्यः, विसम्प्रयुक्तो धातुभिः, संवृत आयतनैः, प्रच्छिन्नो ग्रन्थैः, विमुक्तः परिदाघैः, परिमुक्तस्तृष्णया, ओघादुत्तीर्णः, परिपूर्णो ज्ञानेन, प्रतिष्ठितोऽतीतानागतप्रत्युत्पन्नानां बुद्धानां भगवतां ज्ञाने, अप्रतिष्ठितो निर्वाणे, स्थितो भूतकोट्याम्, स्थितः सर्वसत्त्वालोकनीयायां भूमौ, सर्व इमे तथागतानां विशेषतः सम्यग् गुणाः।

(धर्मानुस्मृतिः)

सद्धर्मस्तु आदौ कल्याणः, मध्ये कल्याणः, पर्यवसाने कल्याणः, स्वर्थः, सुव्यञ्जनः, केवलः, परिपूर्णः, परिशुद्धः, पर्यवदातः, स्वाख्यातः भगवतो धर्मः, सान्दृष्टिकः, निर्ज्वरः, आकालिकः, औपनायिकः, ऐहिपश्यिकः, प्रत्यात्मवेदनीयो विज्ञैः, स्वाख्यातो भगवतो धर्मविनयः सुप्रवेदितः, नैर्याणिकः, संबोधिगामी, अभिन्नः संस्तूपः, सप्रति-शरणः, छिन्नप्लोतिकः।

(संघानुस्मृतिः)

सुप्रतिपन्नो भगवत आर्यसंघः, न्यायप्रतिपन्नः, ऋजुप्रतिपन्नः, सामीचीप्रतिपन्नः, अञ्जलीकरणीयः, सामीचीकरणीयः, पुण्यश्रीक्षेत्रः, महादक्षिणापरिशोधकः, प्राहवनीयः, आहवनीयः।

॥ आर्यत्रिरत्नानुस्मृतिसूत्रं समाप्तम् ॥

आर्यत्रिरत्नानुस्मृतिसूत्र

(ग) हिन्दी भाषानुवाद

भारतीय भाषा में—आर्यत्रिरत्नानुस्मृतिसूत्र
भोट भाषा में—फग्स्-पा-द्कोन्-म्छोग्-ग्सुम्-जेस्-सु-ड्रन्-पाई-म्दो

समस्त बुद्ध एवं बोधिसत्त्वों को नमस्कार

(बुद्धानुस्मृति)

इस प्रकार (वे) भगवान् बुद्ध तो तथागत, अर्हत्, सम्यक्सम्बुद्ध हैं, विद्या और आचरण से सम्पन्न, सुगत, लोक को जानने वाले, अनुत्तर, पुरुषों को दम्य बनाने वाले सारथि, देव और मनुष्यों के शास्ता भगवान् बुद्ध हैं।

तथागत (समस्त) पुण्यों (कुशलों) के निःष्यन्द (हेतु सदृश या सार), कुशलमूलों के अविनाश, क्षान्ति से अलङ्कृत, पुण्य निधियों के आधार, (अस्सी) अनुव्यञ्जनों से चित्रित, (बत्तीस) लक्षण (रूपी कुसुमों) से कुसुमित, आर्य (उत्तम) आचरण के प्रतिरूप, दर्शन से अप्रतिकूल (अर्थात् दर्शन से कभी तृप्ति न होना), श्रद्धा (शुद्ध)-अधिमोक्ष वालों के लिए अभिनन्दनीय, प्रज्ञा की वज़ह से (किसी के भी द्वारा) अनभिभूत (अपराजेय), बलों (मार-बलों) द्वारा अनवमर्दनीय (मर्दन नहीं किये जा सकने योग्य), सभी सत्त्वों (देव-मनुष्य आदि सभी प्राणियों) के शास्ता, बोधिसत्त्वों के पिता (पालक, रक्षक), आर्य

पुद्गलों के राजा, निर्वाण नगर की ओर प्रस्थित (साधकों, योगियों) के सार्थवाह, ज्ञान (बुद्धि) के द्वारा अप्रमेय, प्रतिभानों द्वारा अचिन्त्य, स्वर से विशुद्ध, घोष (ध्वनि) से आस्वादनीय, रूप से असेचनक (अर्थात् कभी भी तृप्ति न हो सकने योग्य), काय के द्वारा अतुलनीय (अर्थात् उनके समान दूसरा कोई नहीं), काम (अर्थात् कामगुणों) से अलिप्त, रूप (अर्थात् रूपभूमि के गुणों) से अनुपलिप्त, अरूप (अर्थात् अरूप भूमि के गुणों) से असंसृष्ट, (पाँच) स्कन्धों से विमुक्त, (अठारह) धातुओं से असंयुक्त, (बारह) आयतनों से रक्षित, (अभिध्या, व्यापाद आदि चार) ग्रन्थों से कटे हुए (अर्थात् उन्होंने इन्हें काट दिया है), परिदाह (दहन करने वाले क्लेश) से विमुक्त, (काम आदि समस्त) तृष्णाओं से विमुक्त, (कामौघ, भवौघ आदि चार) ओघों से उत्तीर्ण, ज्ञान से परिपूर्ण, अतीत, अनागत, प्रत्युत्पन्न भगवान् बुद्धों के ज्ञान में प्रतिष्ठित, निर्वाण में अप्रतिष्ठित (अर्थात् हीन निर्वाण में अप्रतिष्ठित), भूतकोटि (तथता) में स्थित एवं सभी सत्त्वों के अवलोकन करने योग्य भूमि में स्थित हैं। ये सभी तथागतों के विशेष सम्यग् गुण हैं।

(धर्मानुस्मृति)

(भगवान् का) सद्धर्म (तो) आदि (प्रारम्भ) में कल्याणकारक, मध्य में कल्याण-कारक, अन्त में कल्याणकारक, अच्छे (सम्यक्) अर्थ से युक्त, सुव्यञ्जन (अच्छे वर्ण पदों से युक्त), केवल (अर्थात् अन्य तैर्थिकों के मत से अमिश्रित), परिपूर्ण, परिशुद्ध, पर्यवदात (शुक्ल), भगवान् का धर्म अच्छी तरह से व्याख्यात, सान्दृष्टिक (इसी जन्म में देखने योग्य), रोग रहित (अर्थात् दो आवरण रोग से रहित), आकालिक (अर्थात् कालातीत), औपनयिक (अर्थात् निर्वाण की ओर ले जाने वाला), आओ और देखो कह सकने योग्य, विद्वानों द्वारा प्रत्यात्मवेदनीय (अर्थात् अपने भीतर अनुभव करने योग्य), भगवान् का विनय-धर्म अच्छी तरह से (सम्यक्) व्याख्यात और अच्छी तरह प्रतिपादित, (संसार दुःखों से) निर्याण (बाहर) करने वाला, सम्बोधि की ओर गमन कराने वाला, अभिन्न (भेदरहित) एवं सभी का संग्राहक, प्रतिशरण से युक्त एवं प्लोति (अर्थात् संसार में आवागमन के प्रवाह) से विच्छिन्न है।

(संघानुस्मृति)

भगवान् का आर्यसंघ (मार्ग में) अच्छी तरह प्रतिपन्न, न्याय (औचित्य) में प्रतिपन्न, ऋजु (कौटिल्य से रहित) में प्रतिपन्न, समीचीनता में प्रतिपन्न, अञ्जलिबद्ध करने (दोनों हाथ

जोड़ने) योग्य, सामीची (प्रशंसा या स्तुति) करने योग्य, पुण्यश्री का (अनुत्तर) क्षेत्र, दक्षिणा का महाशोधक, (दान देने के लिए) निमन्त्रण करने (बुलाने) योग्य एवं आह्वान करने योग्य है।

॥ आर्यत्रिरत्नानुस्मृतिसूत्र समाप्त ॥

❀ ❋ ❀

ग्रन्थ का संक्षिप्त परिचय

नमो बुद्धाय गुरवे नमो धर्माय तायिने ।
नमः संघाय महते त्रिभ्योऽपि सततं नमः ।। (त्रिरत्नस्तोत्र, आ० मातृचेट)

[गुरु स्वरूप बुद्ध को नमस्कार है। संरक्षक (मार्गरूपी) धर्म को नमस्कार है। (पूजार्ह)—महासंघ को नमस्कार है और इस प्रकार तीनों (रत्नों) को सदा सर्वथा नमस्कार है।]

त्रिरत्न प्राणिमात्र की संतान में विद्यमान क्लेश एवं दुष्कर्मों के फलस्वरूप सभी भय और कष्टों से बचाने वाले एक मात्र अविसंवादात्मक परम एवं प्रधान शरणस्थल हैं। भगवान् बुद्ध इन तीनों रत्नों के स्वरूप हैं। जैसे स्वयं बुद्ध रत्न तो हैं ही, उनके चित्त में विद्यमान मार्गसत्य एवं निरोधसत्य धर्मरत्न है। और भगवान् स्वयं भिक्षु एवं आर्य पुद्गल होने से संघ रत्न भी है। इसलिए इन तीनों को सर्वश्रेष्ठ शरण स्थल के रूप में देखकर उनकी अनुस्मृति करते हुए अन्तर्हृदय से उनकी शरण में गमन करना अत्यन्त आवश्यक एवं उपयुक्त है, क्योंकि उनमें चार प्रकार के असाधारण महाकारण विद्यमान हैं।

यथा—(१) भगवान् बुद्ध स्वयं समस्त भयों से विमुक्त हैं। (२) अन्य को समस्त भयों से मुक्ति दिलाने के उपाय दिखाने में उनमें अद्भुत कौशल है। (३) समस्त (प्राणियों) के प्रति सामीप्य एवं दूरी की भावना के विना महाकरुणा से युक्त हैं तथा (४) हितकारक और अहितकारक सभी प्राणियों के अर्थ (सिद्ध) करते हैं। ये चार अन्य शास्ताओं में न होने वाले अद्भुत विशेष गुण हैं। अतः इनके शरण में जाना और उनकी अनुस्मृति करना कौन नहीं चाहेगा।

प्रस्तुत त्रिरत्न-अनुस्मृतिसूत्र नामक यह ग्रन्थ काग्युर एवं तनग्युर संग्रह के अन्तर्गत एवं 'जो-वोई-छोस्-छुङ्-ग्या-चा' अर्थात् दीपंकर श्रीज्ञान के नाम से जुड़े 'शत लघु ग्रन्थ

संग्रह' इन दोनों में तीन पृथग् ग्रन्थों के रूप में प्रकाशित है। मठ और विहारों के सामान्य पूजा-पाठ से सम्बद्ध ग्रन्थों में ये तीनों एक साथ जुड़े हुए पाये जाते हैं। फलत: इस समय दो प्रकार के पाठ उपलब्ध होते हैं।

सामान्यत: त्रिरत्न-अनुस्मृति सूत्र के विषय में वर्तमानकाल के काग्युर संग्रह में उपलब्ध और पालि विशुद्धमार्ग में उपलब्ध इन दोनों में विस्तार और संक्षेप तथा शब्दों के प्रयोग आदि में अनेक अन्तर दिखलाई देते हैं। अनेक ग्रन्थों में तो त्रिरत्न अनुस्मृति का यह विषय षट्-अनुस्मृतियों के अन्तर्गत प्रतिपादित है और उसी की प्रथम तीन अनुस्मृति त्रिरत्न अनुस्मृति के रूप में ली गई हैं। जैसे आचार्य नागार्जुन के सुहल्लेख में और पालि के विशुद्धिमार्ग में भी उसी के अनुसार ही दिया गया है।

इस समय काग्युर संग्रह में उपलब्ध बुद्ध अनुस्मृति, धर्म अनुस्मृति एवं संघ अनुस्मृति नाम से तीन पृथग् सूत्र उपलब्ध हैं। वे तीनों सूत्र तथा विशेषकर धर्म और संघ अनुस्मृति सूत्र जो इस समय प्राप्त हैं, उनके यथास्वरूप में प्रारम्भिक काल से ही भगवान् बुद्ध के साक्षात् वचन के रूप में सर्वसाधारण के समक्ष अति प्रसिद्ध रूप से प्रचलित थे या नहीं, इस विषय पर अनेक ठोस विचारणीय सवाल बेरोक-टोक उठते प्रतीत होते हैं। जैसे—

(१) महारथी आर्य असंग के द्वारा त्रिरत्न-अनुस्मृतिसूत्र पर वृत्ति लिखी गई है, लेकिन उस वृत्ति में मूलाधार के रूप में जो सूत्र के वाक्य उल्लिखित हैं, वे अतिसंक्षिप्त हैं और उनमें तीनों रत्नों के गुण व्यक्त करने वाले शब्द बहुत कम हैं और वह मुख्यत: पालि त्रिपिटक में उपलब्ध त्रिरत्न अनुस्मृति सूत्र से मिलती-जुलती पायी जाती है। अत: सवाल यह उठता है कि यदि उस समय पालि सूत्र से अतिरिक्त महायान सूत्र में भी वे तीनों सूत्र प्रचलित रूप से विद्यमान थे तो आर्य असंग जैसे महारथी ने उसी के आधार पर वृत्ति क्यों नहीं लिखी?

(२) आचार्य वसुबन्धु ने एक टीका अवश्य लिखी है, लेकिन वह केवल बुद्ध अनुस्मृति की ही है। उस टीका का आधारभूत सूत्र तो वर्तमानकाल में महायान सूत्रों में उपलब्ध विस्तृत सूत्र ही गृहीत है। यदि उन आचार्यों के समय ही ये तीनों सूत्र एक साथ उपलब्ध होते तो आचार्य वसुबन्धु जैसे महायान सूत्रों के महान् टीकाकार ने शेष दो सूत्रों पर टीका क्यों नहीं लिखी? इसमें कोई खास कारण दिखलाई नहीं देता है। फलत: शेष दो सूत्र उस समय पृथग् रूप से नहीं रहे हों, या तो ये दो सूत्र बाद में प्राप्त हुये हों—ऐसा सन्देह पैदा होता है।

(३) आचार्य शान्तिदेव के शिक्षासमुच्चय में तो 'त्रिरत्न अनुस्मृति' नाम से एक परिच्छेद अलग रूप से दिया हुआ है। उस परिच्छेद में तथागताचिन्त्यगुह्यनिर्देशसूत्र आदि विभिन्न आठ सूत्रों के उद्धरण दिये हुए हैं, लेकिन इस विषय से अति-सम्बन्धित इन तीन सूत्रों के न तो उद्धरण दिये गये हैं और न उन सूत्रों के विषय में उल्लेख किया है। यदि उस समय ये सूत्र प्रचलित रूप से उपलब्ध होते तो शिक्षासमुच्चय जैसे उद्धृत-सूत्रों के महाकोश जैसे उस ग्रन्थ में इन सूत्रों के उद्धरण नहीं देने में कोई कारण दिखलाई नहीं देता। अतः विचारणीय स्थिति अवश्य बन जाती है।

(४) तनग्युर संग्रह के तन्त्र वर्ग में ''डुब-थबस्-ग्या-चा'' अर्थात् (शत साधना संग्रह) नामक एक महान् संग्रह ग्रन्थ है, जो लोचावा 'छुल-ठिम्-ग्यल-छेन् (शील ध्वज) द्वारा अनूदित है, उस संग्रह में भी आर्यबुद्धानुस्मृति सूत्र को उक्त लोचावा ने अनुवाद करके उसमें सम्मिलित कर रखा है, लेकिन धर्म और संघ अनुस्मृति के विषय में कोई उल्लेख नहीं किया है। वर्तमान में जैसे उपलब्ध हैं, वैसे तीनों सूत्र उस समय एक साथ उपलब्ध होते तो बाकी दो सूत्र उसमें संगृहीत न करने में कोई कारण प्रतीत नहीं होता है और वे तीनों ग्रन्थ तन्त्र से सम्बन्धित न होने में भी एकसमान हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि शेष दो सूत्र शायद उस समय नहीं थे।

(५) इस समय काग्युर संग्रह में उपलब्ध धर्म और संघ अनुस्मृति सूत्रों का जो स्वरूप पाया जाता है, उस पर भी भारतीय विद्वानों की टीका-टिप्पणी आदि का न होना मात्र ही नहीं, अपितु ग्रन्थ के नाम में भी प्रारम्भ में 'आर्य' शब्द नहीं है और अन्त में 'सूत्र' शब्द भी नहीं है। इतना ही नहीं, दोनों ग्रन्थों के अन्त में अनुवादकों के नाम भी नहीं दिये गये हैं। मूल ग्रन्थों में भी धर्म और संघ के गुणों को प्रतिपादित करने वाले वाक्यों के क्रम और शब्द संयोजन की प्रक्रिया आदि में भी अन्य ग्रन्थों से अनेक भिन्नता दिखलाई देती है। अतः इन सभी विचारणीय परिस्थितियों को देखकर गहराई से परीक्षण करने की विवशता तो स्वाभाविक प्रतीत होती है।

सामान्यतः उपलब्ध त्रिरत्न अनुस्मृति सूत्र के विषय में ज्ञातव्य है कि आधारभूत सूत्र का संक्षिप्त वर्णन तो अर्थविनिश्चय सूत्र[1] आदि में उपलब्ध होता है और पालि में भी 'षट्

---

1. *इत्यपि स भगवांस्तथागतोऽर्हन् सम्यक्संबुद्धो विद्याचरणसंपन्नः सुगतो लोकविदनुत्तरः पुरुषदम्यसारथिः शास्ता देवमनुष्याणां बुद्धो भगवानिति।*

धर्मेऽवेत्य प्रसादेन समन्वागतो भवति—स्वाख्यातो भगवता धर्मः सांदृष्टिको निर्ज्वरः आकालिक औपनायिकः इहपश्यकः प्रत्यात्मवेदनीयो विज्ञैर्यदुत नदनिमदनपधेयासां (?) प्रतिविनय आलयसमुद्धातो धर्मोपच्छेदः शून्यतानुपलम्भः तृष्णाक्षयो निरोधो निर्वाणम्।

अनुस्मृति निर्देश सूत्र[2]' में वर्णन उपलब्ध होता है। एक प्रकार से देखा जाये तो वर्तमानकाल में उपलब्ध ये सूत्र अर्थविनिश्चयसूत्र में वर्णित संक्षिप्त सूत्र के अंशों को आधार के रूप में लेकर बाद में विस्तृत किये गये जैसे लगते हैं। खास करके धर्म और संघ अनुस्मृति इन दो ग्रन्थों को तो बाद में किसी विद्वान् ने बुद्ध अनुस्मृति सूत्र को अलग से उपलब्ध होता देखकर उनकी आवश्यकता महसूस करके मूल सूत्र के संक्षिप्त अंशों को आधार बनाकर तैयार करके जोड़ दिया गया जैसा प्रतीत होता है।

इन परिस्थितियों को देखकर लामा तारानाथ के द्वारा विरचित त्रिरत्न अनुस्मृतिसूत्र की वृत्ति में कहा गया है—"वर्तमान काल का त्रिरत्न अनुस्मृति सूत्र तो महायान सूत्र है। हीनयान सूत्र के अन्तर्गत त्रिरत्न अनुस्मृति पर आर्य-असंग के द्वारा मोटे तौर पर एक व्याख्या ग्रन्थ है। (वह तो) एक विस्तृत शास्त्र में से पृथक् करके निकाला गया जैसा लगता है। (उसमें वर्णित) स्वयं सूत्र की शब्द शैली में भी अत्यन्त भिन्नता आभासित होती है, अतः वह यथावत् इन (सूत्रों) के साथ मेल नहीं खाता है। बाद वाले दो (धर्म और संघ) अनुस्मृति के (जो शब्द इन उपलब्ध सूत्रों के) अनुकूल पाये जाते हैं, वे सब उस (आर्य असंग की) वृत्ति के अनुकूल (यहाँ) व्याख्यायित किये गये हैं।"

यदि सचमुच वर्तमानकाल में प्राप्त ये तीनों सूत्र प्रारम्भिक काल से ही यथास्वरूप भगवान् तथागत द्वारा साक्षात् उपदेशित स्वतन्त्र सूत्र के रूप में भले ही नहीं रहे हों, फिर भी उन सूत्रों में वर्णित त्रिरत्नों के जो गुण प्रदर्शित किये गये हैं, उन सभी वाक्य और शब्दों में बुद्धवचन से हटकर कोई मिलावट नहीं है। शतप्रतिशत सूत्र पर ही आधारित और सूत्रों

संघेऽवेत्य प्रसादेन समन्वागतो भवति—सुप्रतिपन्नो भगवतः आर्यश्रावकसंघो न्यायप्रतिपन्नः स(ऋजु)प्रतिपन्नः सामीचिप्रतिपन्नो धर्मानुधर्मप्रतिपन्नोऽनुधर्मचारी। सन्ति संघे स्त्रोतापत्तिफलसाक्षात्क्रियायै प्रतिपन्नकाः। सन्ति संघे स्त्रोतापन्नाः। सन्ति संघे सकृदागामिनः। सन्ति संघे अनागामिफलसाक्षात्क्रियायै प्रतिपन्नकाः। सन्ति संघे सकृदागामिनः। सन्ति संघे अनागामिफलसाक्षात्क्रियायै प्रतिपन्नकाः। सन्ति संघे अनागामिनः। सन्ति संघे अर्हत्त्वफल-साक्षात्क्रियायै प्रतिपन्नकाः। सन्ति संघे अर्हन्तः। यदुत चत्वारि पुरुषयुगानि, अष्टौ पुरुष-पुद्गलाः। एष भगवतः श्रावकसंघः श्रद्धासंपन्नः श्रुतसंपन्नः समाधिसंपन्नः प्रज्ञासंपन्नः विमुक्तिसंपन्नः विमुक्तिज्ञानदर्शनसंपन्नः आहवनीयः प्राहवनीयः अञ्जलीकरणीयः सामीचिकरणीयः अनुत्तरं पुण्यक्षेत्रं दर्शनीयो लोकस्य।

—महायानसूत्रसंग्रहः (प्रथम खण्ड, पृ० ३२४, दरभङ्गा)।

2. *इति पि सो भगवा अरहं सम्मासम्बुद्धो विज्जाचरणसम्पन्नो सुगतो लोकविदू अनुत्तरो पुरिसदम्मसारथि सत्था देवमनुस्सानं बुद्धो भगवा 'ति।*

स्वाक्खातो भगवता धम्मो सन्दिट्ठिको अकालिको एहिपस्सिको ओपनेय्यिको पच्चत्तं वेदितब्बो विञ्ञूही 'ति।

सुपटिपन्नो भगवतो सावकसंघो, उजुपटिपन्नो भगवतो सावकसंघो, ञायपटिपन्नो भगवतो सावकसंघो, सामीचिपटिपन्नो भगवतो सावकसंघो, यदिदं चत्तारि पुरिस-युगानि अट्ठपुरिसपुग्गला, एस भगवतो सावकसंघो, आहुनेय्यो, पाहुनेय्यो, दक्खिनेय्यो, अञ्जलिकरणीयो अनुत्तरं पुञ्ञक्खेत्तं लोकस्सा 'ति। (विशुद्धि मार्ग, परि० ७, पृ० १७६, १९५, १९९)।

से ही लिये गये हैं। अतः इन सूत्रों के पाठ आदि करने से त्रिरत्नों की कृपा के सत्त्वों में प्रविष्ट होने में या पाठ करने से प्राप्त होने वाली अनुशंसा जनित शक्ति प्राप्त होने आदि में कोई कमी होने की गुंजाइश नहीं दिखलाई देती है।

इन सूत्रों का संस्कृत भाषा में पुनरुद्धार करते समय इनमें वर्णित अधिकतर शब्दशैली और वाक्यों को महाव्युत्पत्ति और निघण्टु से, जो संस्कृत में उपलब्ध हैं, उनसे और अर्थविनिश्चयसूत्र आदि से यथावत् लिया जा सकता है। इसलिए नया बनाने की खास आवश्यकता नहीं है। महाव्युत्पत्ति और निघण्टु में इस विषय से सम्बद्ध जो भी शब्द एवं वाक्य प्रयुक्त किये गये हैं, वे सभी शब्द पूर्णतया सूत्रों से ही संकलित किये गये हैं। अतः इनमें बुद्धवचन से हट कर किसी दूसरे शब्दों का प्रयोग बिलकुल नहीं हुआ है। इसलिए इन ग्रन्थों को बुद्धवचन से भिन्न देखने का कोई कारण नहीं हैं।

जैसे कि पूर्वकाल के महापण्डित और लोचावा लोगों द्वारा संकलित 'महाव्युत्पत्ति' में उक्त त्रिरत्नसूत्र में वर्णित गुण संस्कृत और भोटभाषा दोनों में स्पष्ट एवं परिपूर्ण रूप से सूत्रों से ही संगृहीत हैं, जैसे—"**सूत्रान्त उद्धृतानि तथागतमाहात्म्यनामानि**" इस वर्ग में बुद्ध के गुण, "**धर्मपर्यायाः**"—इसमें धर्म के गुण तथा "**श्रावकगुणाः, माननापर्यायाः**" इन दोनों में संघ के गुणों को संकलित किया हुआ है। इससे उपर्युक्त तथ्य परिपुष्ट हो जाते हैं।

इन ग्रन्थों के ऊपर भारत और भोट देश के अनेक विद्वानों द्वारा लिखी गयी अनेक वृत्तियाँ उपलब्ध होती हैं—जैसे आर्य असङ्ग और वसुबन्धु की वृत्ति पर तो प्रकाश डाला जा चुका है तथा लामा तारानाथ, छे़-छोग्-योङ्-जिन् आदि आठ से अधिक तिब्बती विद्वानों की वृत्तियाँ उपलब्ध होती हैं। इनमें से थुपतेन-शद्-डुब्-ग्या-छो़ नामक विद्वान् के ग्रन्थ में उन सूत्रों के संस्कृत शब्दों को यथासम्भव खोजकर तिब्बती लिपि में दिया गया है, लेकिन परिपूर्ण नहीं है और उसके संस्कृत अंश को 'मञ्जुस्वर' के ग्रन्थ से लेने का उल्लेख भी किया गया है।

वैसे तो प्रस्तुत ग्रन्थों को जिस प्रकार काग्युर संग्रह में तीन पृथक् ग्रन्थों के रूप में तथा दो भाषा में अलग-अलग शीर्षक के साथ दिया गया है, ठीक उसी के अनुसार दिया जा सकता था, लेकिन यहाँ पर पूजा-पाठ आदि के लिए सुविधा को ध्यान में रखकर सर्वविदित मठों के पूजा-पाठों में जिस रूप में दिया गया है, उसी के अनुकूल पृथक् ग्रन्थ के रूप में न देकर एक साथ दिया गया है। वह भी "जो-वोई-छोस्-छुङ्-ग्या-चा़" के अन्तर्गत दिये गये सूत्र को आधार बनाकर संस्कृत में पुनरुद्धार एवं हिन्दी अनुवाद किया गया है, क्योंकि वह पाठ काग्युर संग्रह के पाठ से भी अधिक शुद्ध और समीचीन है। मठों

के पूजा-पाठ वाले अंश भी उसी के अनुसार ही हैं। यहाँ मूल-भोटपाठ को भी अनेक संस्करणों के साथ तुलनात्मक समीक्षण के साथ प्रस्तुत किया गया है।

यूँ तो इन सूत्रों के प्रतिपाद्य विषय पर प्रकाश डालते हुए यहाँ ग्रन्थ का संक्षिप्त सारांश देना आदि भी आवश्यक है, लेकिन विस्तारभय से इस बार उन पर प्रकाश नहीं डाला जा रहा है। बाद में अलग से टीका ग्रन्थ के साथ सम्पादन एवं अनुवाद आदि करने का अवसर मिलता है तो ये सब दिये जा सकते हैं।

इस सुप्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण सूत्र का संस्कृत में पुनरुद्धार एवं हिन्दी अनुवाद करने के लिए बौद्ध विद्याओं के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् प्रो० रामशंकर त्रिपाठी (शोध-आचार्य) ने अमूल्य सहयोग किया है। अतः मैं उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। इस पुनीत कार्य से प्राप्त पुण्यों की "सभी सत्त्व त्रिरत्नों की अनुस्मृति करते हुए बुद्धत्व पद की प्राप्ति की ओर उन्मुख हों" ऐसी परिणामना करता हूँ।

॥ भवतु सर्वमङ्गलम् ॥



लक्ष्मीधरः कांचनपर्वताभस्त्रिलोकनाथस्त्रिमलप्रहीणः ।
बुद्धो विबुद्धाम्बुजपत्रनेत्रस्तन्मंगलं भवतु शान्तिकरं तवाद्य ॥

तेनोपदिष्टः प्रवरस्त्वकम्प्यः ख्यातस्त्रिलोके नरदेवपूज्यः ।
धर्मोत्तमः शान्तिकरः प्रजानां तन्मंगलं भवतु शान्तिकरं तवाद्य ॥

सद्धर्मयुक्तः श्रुतिमंगलाढ्यः संघो नृदेवासुरदक्षिणीयः ।
श्रीह्रीनिवासः प्रवरो गणानां तन्मंगलं भवतु शान्तिकरं तवाद्य ॥

(क्रियासमुच्चय, पृ० १७१)

•

महायान एवं तन्त्रयान में गुरु-प्रत्यय विमर्श

—बनारसी लाल—

[भारतीय संस्कृति में गुरु का स्थान अत्यन्त उच्च है। वैदिक संस्कृति में जहाँ उसे ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश्वर स्वरूप माना है, वहीं बौद्ध संस्कृति में भी उसे त्रिरत्नों अर्थात् बुद्ध, धर्म और संघ स्वरूप स्वीकार किया गया है। महायान एवं तन्त्रयान के शास्त्रों में गुरु तत्त्व की विशद व्याख्या उपलब्ध होती है। प्रस्तुत लेख में महायान एवं तन्त्रयान के शास्त्रों में वर्णित गुरु की अवधारणा, स्वरूप, भेद, लक्षण, गुण एवं दोष, महिमा, उपासना, सेवा, संश्रय, पूजा एवं सत्कार के लाभ, गुरु निन्दा का फल, अनुशंसा इत्यादि विषयों पर प्रकाश डाला गया है।]

प्राचीनकाल से भारतीय संस्कृति में गुरु का अत्यन्त महत्त्व स्वीकार किया गया है। चाहे वह सामान्य प्राकृतजन हों या सन्यासी दोनों के लिए गुरु का होना तथा उससे शिक्षा और दीक्षा लेना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जहाँ वैदिक संस्कृति में गुरु को ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर और साक्षात् परम ब्रह्म स्वीकार किया गया है—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।

वहीं बौद्ध परम्परा में भी गुरु को बुद्ध, धर्म, संघ और वज्रधर स्वरूप स्वीकार किया गया है—

गुरुर्बुद्धो गुरुर्धर्मो गुरुः संघस्तथैव च ।
गुरुर्वज्रधरः श्रीमान् गुरुरेवात्र कारणम् ।।[1]

बौद्धों की प्रथम दीक्षा ही त्रिशरणगमन है। त्रिशरणों में बुद्ध, धर्म और संघ की शरण में जाया जाता है। इसी क्रम में महायानी परम्परा में विशेष कर भोट परम्परा में गुरु की महत्ता के कारण त्रिरत्नों की शरण में जाने से पूर्व 'गुरु की शरण में जाता हूँ' ऐसा विधान किया गया है। इससे स्पष्ट है कि बौद्ध परम्परा में गुरु को बुद्ध, धर्म और संघ के बराबर ही स्थान एवं महत्त्व दिया गया है।

बौद्धेतर परम्परा में जहाँ आचार्य, उपाध्याय, ज्येष्ठ, श्रेष्ठ इत्यादि गुरु शब्द के पर्याय के रूप में व्यवहृत मिलते हैं, वहीं बौद्ध परम्परा में भी गुरु, उपाध्याय, आचार्य एवं

---

1. इस श्लोक का कुछ भिन्न पाठ भी उपलब्ध है, जैसे—
गुरुर्बुद्धो गुरुर्धर्मो गुरुः संघस्तथैव च ।
गुरुर्वज्रधरः श्रीमान् तस्मै श्रीगुरवे नमः ।। (बौ० स्तो० सं०, पृ० 66)

कल्याणमित्र आदि के रूप में इसका उल्लेख किया गया है। गुरु शब्द की अनेक व्युत्पत्तियाँ मिलती हैं। उनमें से कुछ व्युत्पत्तियाँ निम्नलिखित हैं। जैसे "गिरति अज्ञानम् इति गुरुः" अर्थात् जो अज्ञान को दूर करता है, वह गुरु होता है। "गृणाति धर्ममम् इति गुरुः" अर्थात् जो धर्म का उपदेश देता हो वह गुरु होता है। "गीर्यते इति गुरुः" अर्थात् जिसकी स्तुति की जाती है उसे गुरु कहते हैं। यद्यपि बौद्ध शास्त्रों में गुरु शब्द का व्युत्पत्ति परक अर्थ कम ही दृष्टिगत होता है तथापि गुरु शब्द का प्रयोग अत्यन्त बहुलता से हुआ है। हेवज्रतन्त्र की व्याख्या योगरत्नमाला में आचार्य शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ इस प्रकार दिया गया है, "आराद् दूरं पापकेभ्यो धर्मेभ्यश्चरतीत्याचार्यः"[1] अर्थात् संसार के पापों से दूर रहकर धर्म का आचरण अर्थात् अनुशीलन करने वाला आचार्य है। वसन्ततिलक टीका में आचार्य के सम्बन्ध में कहा है कि बाह्य लोक में मण्डलों के अधिष्ठाता आचार्य हैं, वहीं अध्यात्म रूप में चित्तराज ही मण्डलाध्यक्ष हैं। जो चित्तवज्रधर स्वसंवेद्यरूप होने और मण्डलों को अभेद रूप से जानते हैं वही आचार्य हैं। अर्थात् उन-उन विशेष आचरणों के करने के कारण आचार्य कहा जाता है[2]।

चक्रसंवरविवृति में व्याख्या करते हुए कहा है कि "गुरुराचार्यशब्देन पण्डितैः परिगद्यते"[3]। आचार्य किसे कहते हैं इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि जो सद्धर्म का अध्यापन करता है, जो सद्धर्म का व्याख्यान और उपदेश देता है और तन्त्र का अभिषेक देता है उसे आचार्य कहा जाता है[4]।

तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के चार प्रत्ययों में गुरु को भी एक प्रत्यय माना गया है।[5] बौद्ध शास्त्रों में चाहे वे महायान के ग्रन्थ हों या तन्त्र के 'गुरु-प्रत्यय' की विशद विवेचना की गई है। महायानी ग्रन्थों में विशेषकर, बोधिसत्त्वभूमि, महायानसूत्रालंकार, बोधिचर्यावतार और बोधिपथप्रदीप आदि में तथा तन्त्र ग्रन्थों में प्रायः सर्वत्र कुछ न कुछ गुरु एवं शिष्य के लक्षण, गुण, पर्युपासना इत्यादि के सम्बन्ध में विवृति मिलती है। ग्यारहवीं शताब्दी के

---

1. दी हेवज्रतन्त्र, योगरत्नमाला, प० 7a, पृ० 107
2. योऽयं चित्तवज्रधरः स्वसंवेद्यस्वरूपत्वेन प्रागुक्तमण्डलान्यभेदेन बुध्यते स एवाचार्यः। तत् तत् सविशेषाचरणादाचार्य इत्युच्यते। व० ति० टी०, पृ० 68-69
3. चक्रसंवरतन्त्रम्-सटीक, भाग-I, पृ० 29
4. सद्धर्माध्यापको यश्च व्याख्याता चोपदेशदः ।
अभिषेक्ता कर्मकर्ता चाचार्यः समुदाहृतः ।। (च० सं० वि०, भाग-I, पृ० 29)
5. आगमात् प्रत्ययश्चैव गुरुतः प्रत्ययस्तथा ।
आत्मतः प्रत्ययश्चैव परतः प्रत्ययस्तथा ।।
चतुर्भिः प्रत्ययैर्ग्राह्यम् । (व० ति० टी०, पृ० 89)

भोटाचार्य गम्पोपा ने अपने ग्रन्थ ''सद्धर्मचिन्तामणिमोक्षरत्नालंकार'' में महायानी साहित्य की पृष्ठभूमि में गुरु अर्थात् कल्याणमित्र के गुण, लक्षण, भेद इत्यादि पर विस्तार से प्रकाश डाला है। वहीं मन्त्रयान की दृष्टि से अनेक ग्रन्थों में गुरु के गुण, लक्षण एवं परीक्षा आदि का उल्लेख है। उनमें गुरुपञ्चाशिका एक प्रमुख ग्रन्थ है जिसमें गुरु एवं शिष्य के लक्षण भेदों सहित गुरु की पर्युपासना कैसे करनी चाहिए इसका उल्लेख है। यहाँ संक्षेप में उन-उन ग्रन्थों में आई गुरु, आचार्य एवं कल्याणमित्र सम्बन्धी अवधारणाओं को प्रस्तुत किया जा रहा है।

सर्वप्रथम महायानी अवधारणा पर विचार किया जा रहा है। आचार्य गम्पोपा ने इसे प्रस्तुत करते हुए कहा है[1] कि अनुत्तरबोधि की प्राप्ति के लिए गुरु अर्थात् कल्याणमित्र एक प्रत्यय है। विदित है कि अनुत्तरबोधि की प्राप्ति के लिए हेतु, आश्रय, प्रत्यय, उपाय, कर्म और फल ये छह आवश्यक तत्त्व हैं। मानव ही नहीं प्राणिमात्र का अन्तिम ध्येय अनुत्तरबोधि है, इसकी प्राप्ति में कल्याणमित्र प्रेरक होने के कारण प्रत्यय के रूप में स्वीकृत है। अनुत्तर बोधि की प्राप्ति में हेतु तथागतगर्भ है, रत्नसदृश मनुष्य का यह शरीर आश्रय है। इसके पश्चात् प्रत्यय स्वरूप गुरु अर्थात् कल्याणमित्र को स्थान दिया गया है। ग्रन्थकार का मानना है कि हेतुरूप तथागतगर्भ और आश्रय सम्पत् उत्तम मनुष्य का शरीर प्राप्त होने पर भी यदि प्रत्यय स्वरूप गुरु की प्रेरणा न मिले तो अपने पूर्वजन्मों के दुष्कर्मों के प्रभाव से मनुष्यों का बोधि प्राप्ति की ओर प्रवृत्त होना अत्यन्त कठिन है। अतः बोधि प्राप्ति के इच्छुक सभी सत्त्वों को कल्याणमित्र का सेवन करना अत्यन्त आवश्यक है।

ग्रन्थकार ने कल्याणमित्र का किस प्रकार सेवन करना चाहिए और कल्याणमित्र कैसा हो इत्यादि विषय को पाँच अंगों में विभक्त कर स्पष्ट किया है। ये पाँच अंग हैं— 1. उपपत्ति, 2. भेद, 3. भेदों का लक्षण, 4. संश्रय (सेवन) का उपाय और 5. अनुशंसा।

उपपत्ति के अन्तर्गत कल्याणमित्र के सेवन का क्या प्रयोजन है, इसे आगम, युक्ति और दृष्टान्त के द्वारा यहाँ बतलाया गया है। यहाँ आगम उपपत्ति को रत्नगुणसञ्चयगाथा और अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता के प्रमाण से बतलाया गया है कि गुरुभक्त शिष्य को सम्यक्सम्बोधि की इच्छा से विद्वान् गुरु का सेवन करना चाहिये। उसकी सेवा एवं परिचर्या करनी चाहिये। उस कल्याणमित्र की पर्युपासना करनी चाहिये[2]।

---

1. सद्धर्मचिन्तामणिमोक्षरत्नालंकार, तृतीय परिच्छेद।
2. ते ही सुशिष्यगुरुगौरवसंप्रयुक्तो कल्याणमित्र सद सेवितव्य विज्ञैः।
   किं कारणं ततु गुणागमु पण्डितानाम्।। (र० गु० सं०, 15.1-2)

युक्ति उपपत्ति को तर्क के माध्यम से धर्मी, प्रतिज्ञावचन, हेतु, साधर्म्य और वैधर्म्य दृष्टान्त आदि को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि सर्वज्ञत्व प्राप्त करने की इच्छा रखने वाला पुद्गल धर्मी है। उस पुद्गल को कल्याणमित्र का सेवन करना चाहिये यह प्रतिज्ञा वचन है। वह पुद्गल संभार के संचय एवं आवरण के प्रहाण से अनभिज्ञ है—हेतु है। त्रैकालिक बुद्ध साधर्म्य दृष्टान्त है और प्रत्येक बुद्ध वैधर्म्य दृष्टान्त है। इसे स्पष्ट करते हुए आगे कहा है कि सत्त्वों को अनुत्तरबोधि अर्थात् बुद्धत्व प्राप्त करने के लिए पुण्यसंभार एवं ज्ञानसंभार का संचय करना अत्यन्त आवश्यक होता है। बिना संभारों के संचय किये बोधि को प्राप्त करना असम्भव है। संभारों का संचय किस प्रकार किया जाए अर्थात् इसका क्या उपाय है, इसे कल्याणमित्र से ही जाना जा सकता है। दूसरी ओर बुद्धत्व प्राप्ति के लिए आवरणों अर्थात् क्लेशावरण और ज्ञेयावरण का प्रहाण भी अत्यन्त आवश्यक है। इन आवरणों का प्रहाण किस प्रकार किया जाता है इसे बतलाने वाला भी कल्याणमित्र गुरु ही होता है।

दृष्टान्त उपपत्ति को समझाते हुए कहा है कि कल्याणमित्र उस मार्गदर्शक के समान है जो व्यक्ति को किसी अनजान मार्ग से जाते समय पथप्रदर्शन करता है। इस दृष्टान्त की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि जैसे जब कोई व्यक्ति किसी अनजान, अपरिचित मार्ग से जाता है तब मार्गदर्शक के नहीं होने पर मार्ग में भ्रमित होने, किसी विपरीत मार्ग में जाने एवं रास्ते में भटकने की सदा आशंका बनी रहती है। यदि ऐसी स्थिति में उसके साथ एक योग्य पथप्रदर्शक हो तो वह उपर्युक्त स्थितियों से बचकर, बिना एक भी कदम व्यर्थ गंवाए अपने गन्तव्य तक पहुँच जायेगा। इस दृष्टान्त का भावार्थ बतलाते हुए कहते हैं कि जो सत्त्व बोधि की इच्छा से इस पथ पर आरूढ होकर बुद्धभूमि तक पहुँचना चाहते हैं उनके लिए कल्याणमित्र गुरु का होना अत्यन्त आवश्यक है। यदि वह इसके लिए किसी योग्य पथप्रदर्शक कल्याणमित्र गुरु का सेवन नहीं करेगा तो उसे तीर्थिकों के मार्ग में भ्रमित होने, श्रावक के विपरीत मार्ग में जाने एवं प्रत्येकबुद्ध के मार्ग में भटकने की सदा आशंका बनी रहती है। मार्गदर्शक गुरु साथ हों तो उपर्युक्त आशंकाओं से बचते हुए शीघ्र बुद्ध भूमि तक पहुँच जायेगा। यहाँ श्रीसंभवविमोक्ष नामक सूत्र का उद्धरण देते हुए कहा है कि कल्याणमित्र मुमुक्षु को पारमिता के मार्ग पर अवतरित करता है। इसी सातत्य में दूसरे दृष्टान्त को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि कल्याणमित्र उस संरक्षक के समान है जो भयावह जगहों से जाते हुए यात्रियों को सुरक्षित अपने गन्तव्य स्थल तक पहुँचा देता है। कहने का तात्पर्य है कि डाकू, हिंस्र जंगली जानवरों आदि के उपद्रवों से ग्रस्त क्षेत्रों से

गुजरते समय किसी संरक्षक के साथ नहीं रहने पर हर समय जान का खतरा रहता है। परन्तु जब कोई संरक्षक साथ हो तो बिना किसी भय के उन भयावह क्षेत्रों से सुरक्षित निकला जा सकता है। इसलिए अनुत्तरबोधि के इच्छुक व्यक्ति का बोधिपथ में प्रविष्ट होकर पुण्य एवं ज्ञान संभार संचय करते हुए बुद्धभूमि की ओर प्रस्थान करते समय कल्याणमित्र संरक्षक के समान होता है। वह उसे डाकू सदृश अपने आन्तरिक विकल्प एवं क्लेशों तथा मार के विघ्न और अन्य बाधाओं से बचाकर सुरक्षित बुद्धभूमि तक पहुँचा देता है।

एक अन्य दृष्टान्त द्वारा समझाते हुए कहा है कि कल्याणमित्र उस नाविक के समान है जो व्यक्ति को महानदी को पार करा देता है। जैसे कोई व्यक्ति यदि बिना नाविक के नाव में सवार हो जाए तो वह नदी के उस पार नहीं पहुँच पाता, क्योंकि नदी के मध्य में ही जलप्रवाह उसे अन्यत्र बहा ले जाता है। यदि उस नाव में कुशल नाविक हो तो वह यात्री निश्चिन्त रहता है और अपने गन्तव्य स्थल पर सकुशल पहुँच जाता है। उसी प्रकार संसार सागर को पार करने के लिए सद्धर्म रूपी नौका को खेने के लिए कुशल नाविक कल्याणमित्र की आवश्यकता होती है, जिसके बल पर पुद्गल अपने गन्तव्य अनुत्तरबोधि तक निश्चिन्त होकर पहुँच जाये। आचार्य का कहना है कि हेतु, आश्रय आदि के पूर्ण होने पर भी सत्त्व संसारचक्र में भ्रमित होता रहता है। इस संसार सागर से पार होने के लिए सत्त्वों को पथप्रदर्शक, संरक्षक तथा नाविक स्वरूप कल्याणमित्र का संसेवन करना चाहिये।

कल्याणमित्र के भेदों को इंगित करते हुए चार प्रकार के कल्याणमित्रों की चर्चा की है। उनमें प्रथम है पृथग्जन कल्याणमित्र, दूसरा महाभूमिस्थ बोधिसत्त्व कल्याणमित्र, तीसरा निर्माणकायिक बुद्धकल्याणमित्र और चौथा संभोगकायिक बुद्ध कल्याणमित्र। यहाँ हम केवल पृथग्जन कल्याणमित्र की ही चर्चा करेंगे, क्योंकि शेष कल्याणमित्र सामान्यजनों के लिये न होकर उत्तरोत्तर श्रेष्ठ बोधिसत्त्वों के लिए अभिप्रेत है। पृथग्जन कल्याणमित्र आदिकर्मिकों के लिए है, क्योंकि प्रारम्भिक अवस्था में व्यक्ति कर्म एवं क्लेशों के बन्धन में रहता है। वे उत्तरोत्तर श्रेष्ठ कल्याणमित्रों का सेवन तो क्या उनका दर्शन भी नहीं कर सकते। इसलिए प्रारम्भ में पृथग्जन कल्याणमित्र के सम्पर्क में आकर उनके उपदेशों एवं प्रवचनों से अपने में सामर्थ्य उत्पन्न कर क्रमशः ऊर्ध्ववर्ती कल्याणमित्रों का सेवन कर सकते हैं। अतः प्रारम्भिक अवस्था में आदिकर्मिक सत्त्वों के लिए पृथग्जन कल्याणमित्र ही सर्वोत्तम गुरु है।

उपर्युक्त चार प्रकार के कल्याणमित्रों के लक्षणों का भी निर्देश किया है। यहाँ भी ऊर्ध्ववर्ती कल्याणमित्रों की चर्चा न कर पृथग्जन कल्याणमित्रों के लक्षण की ही चर्चा की जा रही है। यहाँ आचार्य ने अनेक महायानी ग्रन्थों के प्रमाण से पृथग्जन कल्याणमित्र के आठ, चार और दो लक्षणों को बतलाया है। बोधिसत्त्वभूमि[1] में पृथग्जन कल्याणमित्र के आठ प्रकार के गुण बतलाए हैं, वे हैं—शील से समन्वागत होना, बोधिसत्त्वपिटक में बहुश्रुतता, अधिगम से समन्वागत होना, अनुकम्पक होना, विशारद होना, सहनशील होना, अपरिखिन्न मन का होना तथा वाक्पटुता से युक्त होना। महायानसूत्रालंकार[2] में कल्याणमित्र के चार गुण बतलाये गये हैं। तदनुसार कल्याणमित्र बोधिसत्त्वों की देशना में यह चार गुण होने चाहिए—1. विशद, 2. सन्देह का निराकरण करने वाला, 3. आदेय एवं 4. द्विविध तत्त्व का दर्शन कराने वाला। कल्याणमित्र बहुश्रुत होते हैं, अतः उनकी देशना विशद होती है। वे महाप्राज्ञ होते हैं, अतः उनकी देशना दूसरों के सन्देहों का निराकरण करने वाली होती है। वे सत्पुरुषों के अनुरूप कार्य करते हैं, अतः उनके वचन आदेय अर्थात् मान्य होते हैं और वे संक्लेश एवं व्यवदान लक्षण वाले दो प्रकार के तत्त्वों की देशना करते हैं।

बोधिचर्यावतार में शान्तिदेव ने कल्याणमित्र बोधिसत्त्व के दो प्रकार के गुण बताए हैं, महायान से सम्बद्ध विषयों के ज्ञाता तथा बोधिसत्त्व संवर से युक्त होना। उपर्युक्त गुणों से युक्त कल्याणमित्र के सेवन से ही अनुत्तरबोधि प्रशस्त होती है।

उपर्युक्त गुणों से युक्त कल्याणमित्र का किस प्रकार संश्रय लेना चाहिए इसका उपाय बतलाते हुए कहा है कि उसका सेवन तीन प्रकार से किया जा सकता है। प्रथम सत्कार एवं परिचर्या द्वारा, दूसरा अधिमुक्ति एवं गौरव के द्वारा तथा तीसरा साधना एवं प्रतिपत्ति द्वारा।

प्रथम उपाय सत्कार एवं परिचर्या में सत्कार का तात्पर्य है वन्दना करना, जल्दी उठना, शरीर का नमन, परिक्रमा करना, प्रसन्न मन से समयानुसार बात करना, अतृप्त मन से बारम्बार दर्शन करना आदि[3]। परिचर्या से तात्पर्य है, धर्म के अनुरूप भोजन, वस्त्र,

---

1. बोधिसत्त्वभूमि—एन० दत्त, के० पी० जायसवाल रिसर्च इंस्टीच्यूट, पटना, 1978, पृ० 163-164
2. विषदा संदेहजहा आदेया तत्त्वदर्शिका द्विविधा ।
   सम्पन्नदेशनेयं विज्ञेया बोधिसत्त्वानाम् ।। (महायानसूत्रालंकार-12.5)
3. न परितृप्तिरुत्पादयितव्या कल्याणमित्रसंदर्शनेषु—गण्डव्यूह, पृ० 363

शय्या, आसन, औषधि, धन आदि के द्वारा अपने शरीर एवं प्राणों की परवाह किए बिना कल्याणमित्र की सेवा करना।

द्वितीय अधिमुक्ति एवं गौरव द्वारा कल्याणमित्र का सेवन से तात्पर्य है कल्याणमित्र अर्थात् गुरु को बुद्ध समझना, उनके कथन का उल्लंघन न करना और उसके प्रति अधिमुक्ति, गौरव एवं प्रसाद उत्पन्न करना अर्थात् कल्याणमित्र के उपाय कौशल्य चर्या के प्रति मिथ्या विकल्प का परित्याग कर श्रद्धा उत्पन्न करना।

तृतीय उपाय साधना एवं प्रतिपत्ति द्वारा कल्याणमित्र का सेवन से तात्पर्य है, कल्याणमित्र द्वारा उपदिष्ट धर्म का श्रवण, चिन्तन एवं भावना के द्वारा साधना और उसकी निष्पत्ति करना। इस प्रकार साधना की निष्पत्ति करने से कल्याणमित्र अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। जैसा कि महायानसूत्रालंकार में कहा है—

यथानुशिष्टप्रतिपत्तिश्च संराधयेच्चित्तमतोऽस्य धीरः। (17.12)

गण्डव्यूहसूत्र में भी कहा है—"**कल्याणमित्राराधनप्रतिलब्धा सर्वबुद्धबोधिः**" (पृ० 364) अर्थात् कल्याणमित्र की आराधना करने से सर्वबुद्धों की बोधि प्राप्त होती है।

आचार्य ने गुरु से धर्मश्रवण करते समय तीन विशिष्ट अवस्थाओं पर ध्यान देने के लिए कहा है, ये हैं—प्रयोग, मौल और पृष्ठ[1]।

जैसे प्रयोग अवस्था में बोधिचित्त से युक्त होकर कल्याणमित्र से धर्म उपदेश हेतु निवेदन करना, मौल अवस्था में अपने को रोगी, धर्म को औषधि, कल्याणमित्र को वैद्य तथा धर्म के अनुष्ठान का रोग निवारण के रूप में विचार कर धर्मश्रवण करना। पृष्ठ अवस्था में अधोमुख पात्र, छिद्रयुक्त पात्र एवं विषयुक्त पात्र के सदृश दोषों का परित्याग करना चाहिए।

अन्त में उपर्युक्त गुणों से युक्त कल्याणमित्र के सेवन करने से क्या लाभ होगा, इसका भी संक्षेप में निर्देश किया है। तदनुसार कल्याणमित्र द्वारा गृहीत सत्त्व दुर्गति में पतित नहीं होते। कल्याणमित्र द्वारा परिगृहीत सत्त्व महायान धर्म से विरत नहीं होते। कल्याणमित्र द्वारा संरक्षित सत्त्व पापमित्रों के वश में नहीं पड़ते। कल्याणमित्र द्वारा अनुगृहीत सत्त्व पृथक् जन की भूमि को पार कर उत्तरोत्तर श्रेष्ठ गति को प्राप्त करते हैं।

---

1. अथ कुतो यावदेषां प्रयोगमौलपृष्ठानां व्यवस्थानम्। (अभिधर्मकोशभाष्य-पृ० 677)

वहीं आचार्य शान्तिदेव ने बोधिचर्यावतार में कहा है कि बोधिसत्त्वों की शिक्षा का व्रत धारण करने वाले एवं महायान के अर्थ को भलीभाँति जानने वाले कल्याणमित्र का त्याग अपने प्राणों के नाश का भय उपस्थित होने पर भी न करे। अर्थात् सदा उनके सान्निध्य में रहे।[1] कल्याणमित्र किसे कहा जाए इसे स्पष्ट करते हुए आगे कहा है कि अभ्युदय और निःश्रेयस रूपी पुरुषार्थों की प्राप्ति ही कल्याणकर्म है, इसकी प्राप्ति में जो असाधारण बन्धु या सहायक हो, वह कल्याणमित्र कहलाता है। श्रीसम्भवविमोक्ष नामक सूत्र को उद्धृत करते हुए कहा है जो कल्याणमित्र की पर्युपासना (गुरुवर्तन) है, उसे श्रीसम्भवविमोक्ष से सीखें। उस कल्याणमित्र की पर्युपासना और जो बुद्ध द्वारा कथित दूसरी शिक्षाएं हैं, उन्हें सूत्रों का अध्ययन कर जानना चाहिए[2]। श्रीसम्भवविमोक्ष में लिखा है कि जिन आचरणों को नहीं करना चाहिए, कल्याणमित्र उन्हें बताते हैं। प्रमाद करने से रोकते हैं; संसार रूपी नगर से बाहर निकालते हैं; इत्यादि। इसलिए अपने प्रति रोगी की बुद्धि, कल्याणमित्र के प्रति वैद्य की बुद्धि, उनके उपदेशों के प्रति औषधि की बुद्धि तथा उपदेशानुसार आचरण के प्रति व्याधिनाश की बुद्धि रखनी चाहिये।

भोट आचार्य चोंखापा भी कहते हैं कि इह लोक एवं परलोक के जितने भी सुसंभार पुण्य कर्म विद्यमान हों, उन सभी पुण्य कार्यों की हेतु-प्रत्ययता का संयोजन मूलतः मार्गदर्शक सत् कल्याणमित्र द्वारा होता है। अतः उनका यत्नपूर्वक संकल्प एवं प्रयोग द्वारा यथा विधि उपासना करते हुए, उनके गुणों का अवलोकन करते हुए, अन्ततः अपने प्राण के बदले में भी परित्याग (अवहेलना) नहीं करनी चाहिए, बल्कि आज्ञानुसार साधना एवं पूजा द्वारा प्रसन्न करना चाहिये।[3]

महायानसूत्रालंकार[4] में आचार्य असंग ने पूजासेवाप्रमाणाधिकार नामक परिच्छेद में विस्तार से कल्याणमित्र के गुणों का उल्लेख करते हुए कल्याणमित्र के सेवन पर प्रकाश डाला है।

संस्कृत साहित्य में महाकवि अश्वघोष का स्थान अत्यन्त आदरणीय है। ये आर्यशूर, मातृचेट इत्यादि नामों से भी जाने जाते हैं। 'बुद्धचरितम्' के अतिरिक्त पचास

---

1. सदा कल्याणमित्रं च जीवितार्थेऽपि न त्यजेत् ।
   बोधिसत्त्वव्रतधरं महायानार्थकोविदम् ।। (5.102)
2. श्रीसम्भवविमोक्षाच्च शिक्षेद् यद् गुरुवर्तनम् ।
   एतच्चान्यच्च बुद्धोक्तं ज्ञेयं सूत्रान्तवचनात् ।। (5.103)
3. बोधिपथक्रमपिण्डार्थ-पृ० 7-8
4. महायानसूत्रालंकार-17.9-15

श्लोकात्मक 'गुरुपञ्चाशिका' इनकी एक लघु रचना है। जैसा कि नाम से ही विदित होता है कि इसमें गुरु की महिमा गाई गई है। इसमें गुरु के गुण दोषों के विवेचन के प्रसंग में गुरु की उपासना एवं गुरु के प्रति शिष्य का कैसा व्यवहार होना चाहिए इसका विस्तार से प्रतिपादन किया है।

गुरुपञ्चाशिका में सामान्यतः महायानी दृष्टि तथा विशेष रूप से मन्त्रनय की दृष्टि से गुरु एवं शिष्य के गुण दोषों की विवेचना की गई है। यहाँ गुरु को बुद्ध के समान स्वीकार किया गया है। जब हम गुरु को बुद्ध के समान स्वीकार कर लेते हैं, तब गुरु के प्रति हमारा कायिक, वाचिक और मानसिक सभी कर्म तदनुरूप होने चाहिए, क्योंकि गुरु हमें अशेष दुःखों से मुक्ति और अन्ततः बुद्धत्व पद प्राप्त कराने में मार्गदर्शक होता है। इसलिए गुरु की परम भक्तिपूर्वक, पुष्पाञ्जलि सहित मण्डलों द्वारा शिरसा पाद वन्दना, उपासना एवं पूजा करनी चाहिये। यहाँ प्रारम्भ में आचार्य ने मन्त्रनय की दृष्टि से प्रश्न उठाया है कि यदि गुरु गृहस्थ वज्रधर हो और शिष्य संवरवान् भिक्षु हो तो भिक्षु का प्रणाम, उपासना आदि करना क्या लोकनिन्दा का कारण नहीं होगा? अतः इस लोकनिन्दा से बचने के लिए भिक्षु को सद्धर्म के ग्रन्थ आदि को सामने रखकर गुरु को मनसा प्रणाम करना चाहिये।

गुरुपञ्चाशिका में मुख्य रूप से गुरु के प्रति शिष्य का कैसा भाव एवं व्यवहार होना चाहिये और गुरु की उपासना कैसे करनी चाहिए इसका निर्देश किया है। मनुष्य के जीवन का उद्देश्य सम्बोधि की प्राप्ति है। सम्बोधि को प्राप्त करने के कई उपाय हैं, उनमें मुख्य है—पुण्य एवं ज्ञानसम्भार का संचय। आचार्य कहते हैं संवरों से युक्त गुरु की पुत्र, दारा और स्वप्राणों के द्वारा भी सेवा करनी चाहिए, फिर चल सम्पत्ति की तो बात ही क्या। क्योंकि गुरु असंख्येय कल्पों में प्राप्त होने वाले दुर्लभ बुद्धत्व को प्राप्त कराने में सहायक होता है। वह बुद्धत्व प्राप्त करने में लगे हुए शिष्य को इसी जन्म में बुद्धत्व प्राप्त करा देता है। इसलिए इस लोक में जो-जो भी इष्टतर और विशिष्टतर वस्तु है, वह सभी अक्षय हों, इस कामना से गुरु को समर्पित करना चाहिए। गुरु को अर्पित द्रव्य प्रकारान्तर से बुद्ध के प्रति ही समर्पित होता है। इससे पुण्यसम्भार की प्राप्ति होती है और पुण्यसम्भार के संचय होने से उत्तमबोधि की प्राप्ति होती है।

सम्यक् एवं श्रेष्ठ गुरु के लक्षण को बतलाते हुए कहा है कि गुरु को धीर, गम्भीर, विनीत, मतिवान्, क्षमावान्, आर्जव, अशठ, मन्त्र एवं तन्त्र के प्रयोग में कुशल, कृपालु

तथा पण्डित होना चाहिए। उसी प्रकार उसे दश तत्त्वों[1] का ज्ञाता, मण्डल लेखन कार्य को जानने वाला, मन्त्रों का व्याख्यान करने वाला, सदा प्रसन्न रहने वाला एवं जितेन्द्रिय होना चाहिये।

धीरो विनीतो मतिमान् क्षमावानार्जवोऽशठः ।
मन्त्रतन्त्रप्रयोगज्ञः कृपालुः शास्त्रकोविदः ।।
दशतत्त्वपरिज्ञाता मण्डलालेख्यकर्मवित् ।
मन्त्रव्याख्याकृदाचार्यः प्रसन्नः स्याज्जितेन्द्रियः ।। (गु० पं० 8, 9)

उपर्युक्त गुणों से युक्त आचार्य का शिष्य यदि अपमान या अवमानना करता है तो वह सर्व बुद्धों के अपमान के समान पाप का भागी होता है और वह सदा दुःख को प्राप्त होता है। गुरु की निन्दा करने वाला महामूढ़ शिष्य विभिन्न विघ्नों यथा—उपद्रव, चोर, ग्रह, ज्वर इत्यादि द्वारा मारा जाता है। उसकी मृत्यु वायु, जल, अग्नि, तस्कर और विघ्न विनायकों द्वारा होती है। फलस्वरूप वह नरकगामी होता है। इसलिए आचार्य के चित्त को क्षुभित करने वाला कोई भी कार्य नहीं करना चाहिए। यदि ऐसा करता है तो वह दुष्प्रज्ञ नरक में पतित होता है। इसलिए वज्राचार्य महागुरु की कभी भी अवमानना नहीं करनी चाहिये।

त्याग, शील और क्षान्ति आदि गुणों से युक्त शिष्य को गुरु की छाया का भी लंघन नहीं करना चाहिए अन्यथा वह चैत्य भङ्ग आदि दोष का भागीदार होगा। ऐसी स्थिति में गुरु के आसन, पादुका आदि के लंघन की तो बात ही क्या कहना अर्थात् इससे महत् पाप होगा। क्योंकि यहाँ गुरु को वज्रधर एवं बुद्ध के समान मान्यता दी गई है। गुरु की सेवा करने से ही शिष्य को सिद्धि प्राप्त होती है और स्वर्ग की भी प्राप्ति गुरु सेवा से ही सम्भव हो सकती है। गुरु ही बुद्धत्व एवं निर्वाण जैसे परम पद की अवाप्ति का कारण है। अतः यत्नपूर्वक गुरु की आज्ञा का श्रवण एवं पालन करना चाहिए और किसी भी स्थिति में गुरु की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। यहाँ विस्तार से इस प्रकार की विशिष्टता से युक्त गुरु की उपासना तथा गुरु के समक्ष सद् शिष्य का व्यवहार और चर्याएँ कैसी हों इस पर विस्तार से प्रकाश डाला है। गुरु के सन्तोष एवं प्रसन्नता के लिए जो भी शक्य हों उसे सम्पन्न करना चाहिये, क्योंकि सभी सिद्धियाँ गुरु की अनुकम्पा से ही प्राप्त होती हैं और

---

1. रक्षाचक्रं च चक्रं च जापः सेको हठो बलिः ।
प्रत्यङ्गिरा पुटो घातस्तत्त्वानि क्रमतो दश: ।।

सिद्धियाँ आचार्य के अनुगामी हुआ करती हैं। इस तथ्य को जानकर शिष्यों को सभी वस्तुओं द्वारा गुरु की आराधना करनी चाहिये।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि गुरु की उपासना परमावश्यक है। गुरु बुद्ध के समान है और वह हमें बुद्ध के उपदेशों के आधार पर सम्यक् मार्ग प्रदर्शन कर भव के दु:खों से मुक्त कराता है और अन्ततः बुद्धत्व की अवस्था तक पहुँचाता है। अत: ऐसे श्रेष्ठ गुरु के प्रति किसी प्रकार की शंका व्यर्थ है। यदि कोई गुरु की योग्यता पर सन्देह करता है तो वह स्वयं अपनी ही सिद्धि में बाधक बनता है। परम सिद्धि और उत्तम बोधि की प्राप्ति के लिए पुण्य एवं ज्ञानसम्भारों का संचयन आवश्यक है, जिसे हम गुरु की वन्दना, पूजा और सेवा द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। जिस प्रकार कृषक खेत में बीज बोता है, पानी से सींचता है, खेत को इससे कोई लाभ नहीं होता, अन्न पकने पर कृषक के लिए ही होता है, उसी प्रकार गुरु की पूजा, सेवा, वन्दना इत्यादि से गुरु की हित की अपेक्षा शिष्य का ही कल्याण होता है, सम्भारों का संचय होता है और बोधि की अवस्था तक पहुँचाने में सहायक होता है।

कालचक्रतन्त्र[1] में वज्राचार्य परीक्षा के सन्दर्भ में बतलाया गया है कि तन्त्र के अध्ययन की ओर प्रवृत्त होने से पूर्व शिष्य को प्रथमतः सम्यक् गुरु का सेवन करना चाहिए। सम्यक् गुरु के न होने पर तत्त्व का सम्यक् ज्ञान नहीं होगा और विपर्यास अर्थात् भ्रान्त ज्ञान होने के कारण नरक एवं संसारचक्र में भ्रमित होते रहेंगे। अतः सर्वप्रथम ऐसे गुरु का सेवन करना चाहिए जो वज्रयान में अधिरूढ हो, तत्त्वाध्यायी हो, अलुब्ध अर्थात् अलोभी हो, वह सभी प्रकार के क्लेशों से दूर हो या जिन्होंने सभी प्रकार के राग-द्वेष-मोह आदि क्लेशों को दूर कर दिया हो और वह क्षान्तिवान्, शीलवान् हों। शिष्य को सम्यक् मार्ग दिखलाने वाला हो, उन्हें नरक के भय से त्राण देने वाला तथा ब्रह्मचारी हो। इस प्रकार के गुणों से युक्त हो, उसे ही गुरु के रूप में वरण किया जा सकता है।

गुरु के दोषों का विवेचन करते हुए कहा है कि जो गुरु अभिमानी हो, क्रोध से अभिभूत रहने वाला हो, समय (संवर) से च्युत हो, द्रव्य के प्रति लोभी हो, मूर्ख हो, मिथ्या वचनों द्वारा शिष्य को वञ्चना करने वाला और बिना अभिषेक के तन्त्र का व्याख्यान करने वाला हो, वह सदा वर्जनीय है। उसी प्रकार इस संसार के भोगों में आसक्त, प्रमत्त और कामुक हो, ऐसे गुरु का मतिमान शिष्य सम्बोधि प्राप्ति के लिए सर्वथा सेवन न करें।[2]

---

1. कालचक्रतन्त्रम्-3.2
2. कालचक्रतन्त्रम्-3.3

लघुतन्त्र की टीका[1] में गुरुपञ्चाशिका एवं हेवज्रतन्त्रपिण्डार्थ टीका को उद्धृत करते हुए कहा है कि सच्छिष्य को गणनायक के रूप में उन आचार्यों को स्वीकार नहीं करना चाहिए, जो कृपाहीन हों, क्रोधी हों, क्रूर हों, लोभी हों और जो मठ के द्रव्य का भोग करता हो, वणिक् और सद्धर्म विक्रयी हो। वहीं हेवज्रतन्त्रपिण्डार्थ[2] में कहा है—कृपाहीन, कृषिकर्ता, क्रोधी, मर्मभेदक, क्रूर, भिक्षु लोगों से विद्वेष करता हो, मिथ्या ज्ञान पर अहंकार करता हो, लोभी हो, दूसरों के धन का भोग करता हो, मद्यपान से असंयत व्यवहार करता हो और गुणीजनों को दोष देता हो अर्थात् कहने का तात्पर्य है उपर्युक्त दोषों से युक्त आचार्य का आश्रय नहीं लेना चाहिये। इसीलिये कहा है—

आचार्यस्य गुणा ग्राह्या दोषा नैव कदाचन ।
गुणग्रहणाद्भवेत् सिद्धिर्न सिद्धिर्दोषवाक्यतः ।।[3]

अर्थात् आचार्य के गुणों को ग्रहण करना चाहिए दोषों को कभी नहीं, क्योंकि गुणों को ग्रहण करने से सिद्धि मिलती है, दोषों से नहीं।

विमलप्रभा में आचार्यपरीक्षा[4] नामक प्रकरण को उद्धृत करते हुए कहा है कि आचार्य तीन प्रकार के होते हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। दशतत्त्वों के ज्ञानी होने से तीनों में भिक्षु आचार्य उत्तम हैं, श्रामणेर आचार्य मध्यम और गृहस्थ आचार्य अधम हैं। लघुतन्त्रटीका[5] में भी इन तीनों प्रकार के आचार्यों का उल्लेख करते हुए कहा है गणचक्र एवं प्रतिष्ठा आदि पूजाओं में भिक्षु आचार्य को गणनायक होना चाहिए। इनके अभाव में श्रामणेर आचार्य और इनके भी उपलब्ध न होने पर गृहस्थ आचार्य को गणनायक बनाना चाहिये।

बोधिपथप्रदीप[6] में आचार्य दीपंकरश्रीज्ञान कहते हैं कि सद्गुरु से ही संवर[7] ग्रहण करना चाहिए। वह सद्गुरु संवर विधि में कुशल हो, स्वयं संवरवान् हो; संवर देने में

---

1. लघुतन्त्रटीका-पृ० 107 (गु० पं०-7)
2. लघुतन्त्रटीका-पादटिप्पणी सं०-39
3. उद्धृत-विमलप्रभा-भाग-II, पृ० 4
4. दशतत्त्वपरिज्ञानात् त्रयाणां भिक्षुरुत्तमः ।
   मध्यमः श्रामणेराख्यो गृहस्थस्त्वधमस्तयोः ।। (वि० प्र०, II, पृ० 4)
5. लघुतन्त्रटीका-पृ० 106-107
6. कारिका सं०-23, 63-64
7. संवर तीन प्रकार के होते हैं—प्रातिमोक्षसंवर, बोधिसत्त्वसंवर और मन्त्रसंवर।

समर्थ तथा कृपालु हो। अभिषेक के लिए शिष्य को बहुमूल्य रत्न आदि के दान, भक्ति और आदेश पालन आदि से सद्गुरु को प्रसन्न करना चाहिए। सद्गुरु के प्रसन्न होने पर तथा आचार्य अभिषेक पूर्ण होने पर वह शिष्य सभी पापों से विशुद्ध होकर सिद्धि का भागी होता है।

स्वाधिष्ठानप्रभेद[1] में आचार्य आर्यदेव कहते हैं सभी श्रुतियों में पारंगत होने पर भी अनेक कल्पों तक बिना गुरु के मुख से श्रवण किए माया का साक्षात्कार नहीं कर सकते हैं। इसलिए बुद्धत्व की आकांक्षा से सभी प्रकार के मान-अहंकारों को त्याग कर यत्नपूर्वक गुरु की आराधना करें।

आचार्य आर्यदेव अपने दूसरे ग्रन्थ चर्यामेलापकप्रदीप[2] में देशना पाठ को उद्धृत करते हुए स्पष्ट करते हैं कि जिस प्रकार घट के अन्दर स्थित दीप घट से बाहरी भाग को प्रकाशित नहीं कर सकता। उस घट के टूट जाने पर ही दीप से बाहर प्रकाश फैल सकता है। उसी प्रकार मनुष्य का यह काय भी घट के समान है। इसके अन्दर तत्त्वज्ञान (तथागतगर्भ) रूपी दीप विद्यमान है। गुरुमुख के उपदेश से ही यह काय टूटता है और तत्त्वज्ञान प्रकट होता है।

बौद्धतन्त्रों में विधि एवं साधना में भी गुरु तत्त्व का अत्यन्त महत्त्व हैं। विधि सम्मत अभिषेकादि कर्मकाण्डों में सर्वप्रथम गुरु-शिष्य की परीक्षा, उसके पश्चात् गुरु की अध्येषणा, मन्त्रसेवा, भूमि परीक्षादि कर्म प्रतिपादित हैं।[3] वहीं शबरपाद गुह्यवज्र-विलासिनीसाधन[4] में कहते हैं कि प्रथमतः सिद्धि की विधि को जानकर गुरु की आराधना पुरस्सर गुरु के अमृत रूपी वचनों से तृप्त होकर साधना आरम्भ करें।

डाकिनीजालसंवररहस्यम् नामक ग्रन्थ में वज्रपञ्जरतन्त्र[5] को उद्धृत करते हुए कहा है कि गुरु की छाया का भी लंघन न करे, गुरु की पादुका एवं पत्नी का भी लंघन न करे।

---

1. अनन्तेष्वपि कल्पेषु श्रुतिपारङ्गतैरपि ।
   गुरुवक्त्राद् विना माया साक्षात्कर्तुं न शक्यते ।।
   तस्मान्मानं परित्यज्य बुद्धत्वफलकाङ्क्षया ।
   वज्रयानं समारुह्य यत्नेनाराधयेद् गुरुम् ।। (का० 14, 15, द्र०-बौद्धलघुग्रन्थसंग्रह, पृ० 172)
2. चर्यामेलापकप्रदीपम्-पृ० 61
3. क्रियासंग्रह-1, द्र०-बौ० ल० ग्र० सं०, पृ० 27
4. गुह्यवज्रविलासिनीसाधन-17, द्र०-बौ० ल० ग्र० सं०, पृ० 59
5. डाकिनीजालसंवररहस्यम्-पृ० 11

यदि मोहवश कोई इसका उल्लंघन करता है तो वह नरक में पतित होता है। सिद्धि सम्पन्न शिष्य भी गुरु की आज्ञा का लंघन करता है तो वह इस लोक में तो कुष्ठ से पीड़ित होता ही है, परलोक में नरक में वास करता है। मायाजाल के द्वारा या वञ्चना द्वारा गुरु के प्रति यदि कोई मिथ्या भक्ति भाव का प्रदर्शन करता है तो इसके फलस्वरूप वह क्षय एवं कुष्ठ रोग से ग्रस्त होता है और नरकादि में उत्पन्न होता है। इसलिए शिष्यों को सदा भक्ति पूर्वक गुरु की आज्ञा का पालन करते हुए विपुल सिद्धियों को सिद्ध करना चाहिए।

गुह्यावली[1] में सिद्ध दउडीपाद ने भी गुरु के महत्त्व को दर्शाते हुए अनेक विध उपमाओं को देकर गुरु किस प्रकार शिष्य को वज्रपद तक पहुँचाता है, इसे समझाया है। गुरु के प्रभाव को बतलाते हुए कहा है, चाहे गुरु और शिष्य कितने ही दूर या नजदीक बैठे हों, सहस्रों योजन दूर से भी गुरु शिष्य को ज्ञान करा देता है जैसे दूर आकाश में स्थित सूर्य तडाग में स्थित कमल को विकसित करा देता है। ऐसी स्थिति में सिद्धि प्रदाता गुरु के बारे में कैसी शंका? जैसे दीप से दीप जलता है उसी प्रकार गुरु अपनी ज्ञान परम्परा को शिष्य में क्रमशः संक्रमित करता है, अर्थात् गुरु ज्ञान की परम्परा को दीपक की भाँति प्रज्वलित रखता है। अधिष्ठानज्ञ गुरु प्रज्ञायोग के बिना ही शीघ्र शिष्य की सम्बोधि का कारण होता है।

गुह्यसिद्धि नामक ग्रन्थ में आचार्य पद्मवज्र ने विविध प्रसंगों में गुरु तत्त्व की चर्चा की है। गुरु की कृपा से ही स्वदेह में संव्यवस्थित परम शुद्ध बोधिचित्त की उपलब्धि होती है। इसलिए गुरु की निन्दा करने वाले को तत्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती है। जो गुरु को वज्रधर के समान अर्थात् वज्रधर से अभिन्न मानता है उसे सिद्धि प्राप्त होती है। जो मानी, क्रूर, धूर्त एवं वञ्चक शिष्य हैं वे गुरु के सामने तो धूर्ततावश नमस्कार आदि करते हैं वे ही पीठ पीछे गुरु के छिद्रान्वेषण में तत्पर रहते हैं।[2] वही तृतीय परिच्छेद में कहते हैं कि तन्त्र का जो रहस्य है जो सिद्धि को प्रदान करने वाला और दिव्य है, वह सभी गुरु के मुख में प्रतिष्ठित है।[3] इस ग्रन्थ का नवम परिच्छेद परमार्थाचार्य पूजादेशना निर्देश है। इसमें विस्तार से परमार्थ आचार्य के महत्त्व को बतलाते हुए कहा है कि आचार्य जैसा परम रत्न तीनों

---

1. गुह्यावली-3-6, 8, 12-14, 19-21, द्र०-बौ० ल० ग्र० सं०, पृ० 75-79
2. गुह्यसिद्धि-1.31-52
3. रहस्यं यत्परं तन्त्रे गुरुवक्त्रे प्रतिष्ठितम् ।
   बुद्धसिद्धिप्रदं दिव्यं तत्सर्वं कथितं मया ।। (3.88)

लोकों में नहीं है। इन्हीं के प्रसाद से अनेक सुधी जन सिद्धियों को प्राप्त करते हैं। यदि आचार्य की सम्यक् उपासना नहीं करेंगे तो सिद्धियाँ भी सिद्ध नहीं होती हैं। यहाँ तन्त्र की दृष्टि से बतलाते हुए कहा है विविध वस्त्र और अलंकारों सहित स्वमुद्रा को भूषित कर गुरु की पूजा के लिए समर्पित करना चाहिये। क्योंकि तन्त्र में स्वमुद्रा अर्पण से सिद्धि मिलती है, ऐसा वर्णित है। जो गुरु और रत्नत्रय की निन्दा एवं अपमान करते हैं वे नरक में पतित होते हैं और जो भक्तिपूर्वक भावना करते हैं, वे इस घोर संसार सागर से तर जाते हैं तथा शीघ्र ही अनुत्तरबोधि के पद को पाजाते हैं। गुरु अज्ञान के अन्धकार में रह रहे सत्त्वों को प्रदीप की भाँति प्रकाश प्रदान करता है। इस प्रकार अनेक उपमाओं को देकर गुरु का महत्त्व प्रतिपादित किया है।

प्रज्ञोपायविनिश्चय[1] सिद्धि में भी आचार्य अनंगवज्रपाद ने द्वितीय परिच्छेद वज्राचार्याराधन में कहा है कि सद्गुरु की सेवा से तत्त्व की प्राप्ति होती है। आगे कहा है कि जो दुष्ट शिष्य योगी एवं आचार्य बनने के लिए गुरु के पास जाते हैं, उन्हें बुद्धत्व प्राप्ति की कोई रुचि नहीं रहती। गुरु से ज्ञान प्राप्त होने के बाद उनका सम्मान भी नहीं करते। ऐसे शिष्य घोर कष्ट एवं दुःख भोगेंगे और नरक में गिरेंगे। अतः अपना कल्याण चाहने वालों को सभी प्रकार के मान, अहंकार आदि को छोड़कर गुरु की सेवा करनी चाहिये। गुरु की सेवा से ही अनुत्तर तत्त्वरत्न की प्राप्ति होती है।

इन्द्रभूतिपाद की ज्ञानसिद्धि का 13वाँ परिच्छेद गुरुलक्षणनिर्देश है यहाँ अच्छे और बुरे गुरु का लक्षण बताया गया है। गुरु का महत्त्व बतलाते हुए कहा है कि गुरु जन्म से अन्धे अर्थात् अज्ञानी लोगों को सम्यक् मार्ग बतलाने वाला है। इसलिए शिष्य को गुरु की सम्यक् परीक्षा करके उपासना करनी चाहिए। गुरु के गुणों को बतलाते हुए कहा है कि गुरु को त्रिरत्नों का सम्यक् ज्ञाता, सभी जन्तुओं के प्रति करुणा से युक्त अर्थात् कृपावान्, त्याग से युक्त, धीर, जिसने बोधिचित्त उत्पन्न किया हो, सदा प्रसन्न रहने वाला गुणवान्, विद्वान्, अक्रोधी, महा उत्साह से युक्त, गम्भीर धर्म का निश्चय करने वाला, युक्तिपूर्वक धर्मदान देने वाला, अल्पेच्छा वाला और दो प्रकार के सम्भारों से सम्भृत होना चाहिये।[2] वहीं बुरे गुरु के लक्षण बतलाते हुए कहा है कि जो मिथ्याज्ञान के कारण अभिमानी, लोभ युक्त चित्त से धर्म की देशना करते हैं, जो पापमित्रों की संगति करते हैं और सत्त्व की सदा

1. प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि-2.6-34
2. ज्ञानसिद्धि-13.8-12

हानि करते हैं, जो स्व और पर दोनों का नाश करते हैं, ऐसे गुरुओं का सदा त्याग करना चाहिये और न ही उनकी पर्युपासना करनी चाहिये।[1]

व्यक्तभावानुगततत्त्वसिद्धि में भी सद्गुरु पर्युपासना नामक अनुच्छेद में अत्यन्त स्पष्टरूप से सद्गुरु की वन्दना, आश्रय आदि क्यों लेना चाहिये, इसे बतलाते हुए कहा है कि घोर, दुस्तर संसारसागर से पार होने के लिए सद्गुरु पोत के समान है। अतः हमें सद्गुरु का आश्रय अवश्य लेना चाहिये। जो सद्गुरु की वन्दना, भक्ति एवं आश्रय नहीं लेते वे भवसागर के पार नहीं उतर सकते।[2]

अद्वयसिद्धि में भी गुरु की पूजा क्यों करनी चाहिये, इसे बतलाते हुए कहा है कि जो परम तत्त्व (बोधि) सभी सत्त्वों में अव्यक्त रूप में स्थित है, उसे गुरु मुख से ही जाना जा सकता है। इसलिए आचार्य परमदेव हैं उनकी पूजा प्रयत्नपूर्वक करनी चाहिये। इस सम्पूर्ण चराचर लोक में गुरु से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है।[3]

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त भी तन्त्रों में बहुलता से गुरु की महिमा गाई गयी है, जैसे कृष्णयमारितन्त्र में कहा है—गुरु समय (संवर) का पालन करने वाला, अप्रतर्क्य, कृपा से युक्त तथा सकल दोषों से रहित होना चाहिये।[4] अभिसमयमञ्जरी में गुरु की महिमा का वर्णन है।[5] योगिनीसंचारतन्त्र[6], वसन्ततिलकटीका[7], तत्त्वज्ञानसंसिद्धि[8] और अचिन्त्या-द्वयक्रमोपदेश[9] एवं षडङ्गयोगटिप्पणी[10] में गुरु तत्त्व पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

---

1. ज्ञानसिद्धि-13.13-15
2. अस्माद् घोरतरादनन्तविषयाद् दुर्वारमारार्णवात्
   संसाराद् यदि नो भवन्ति गुरवः पोतोपमास्तायिनः ।
   तत् कस्मात् स्वविकल्पजालबहुलाद्व्यालाकुलाद्व्याकुलाः
   प्राप्स्यन्त्यत्र परं सुखैकनिलयं बुद्धत्वमेते जनाः ।। (गु० अ० सि०, पृ० 172-173)
3. श्लोक सं० 30-34, द्र०-गु० अ० सि०, पृ० 163-164
4. कृष्णयमारितन्त्रम्-17.12, 18
5. अभिसमयमञ्जरी-पृ० 30
6. योगिनीसञ्चारतन्त्रम्-पृ० 109-111
7. वसन्ततिलक-पृ० 89, 26, 68-69
8. तत्त्वज्ञानसंसिद्धि-पृ० 53
9. अचिन्त्याद्वयक्रमोपदेश-पृ० 93-94
10. षडङ्गयोगटिप्पणी-पृ० 76

उपर्युक्त महायानी ग्रन्थों एवं तन्त्रशास्त्रों में वर्णित गुरु तत्त्व पर विहंगम दृष्टि डालें तो स्पष्ट होता है कि दोनों ही परम्पराओं में गुरु अत्यन्त समादरणीय है। गुरु को त्रिरत्न और वज्रधर के समान माना गया है। गुरु सत्त्व को अनुत्तरपद बोधि तक पहुँचाने में पथप्रदर्शक स्वरूप है। गुरु के गुणों एवं लक्षणों की विशद विवेचना की गयी है। तन्त्रशास्त्रों में आचार्य परीक्षा का भी उल्लेख है तदनुसार शिष्य को सद्गुरु एवं असद् गुरु की परीक्षा कर ही उसका सेवन करना चाहिये। सद्गुरु का सेवन तथा असद् गुरु के वर्जन पर जोर दिया गया है। तन्त्रशास्त्रों में प्राय: सर्वत्र सद्गुरु के सेवन, पर्युपासना के लाभ तथा उसका अपमान एवं निन्दा करने से होने वाले दोषों का भी पर्याप्त उल्लेख हुआ है। अन्त में यह परिलक्षित होता है कि सिद्धि के इच्छुक, इस संसारचक्र के बन्धन से मुक्त होने के इच्छुक अर्थात् अनुत्तरबोधि की प्राप्ति के लिये यथाशक्ति गुरु की पूजा, सेवा करनी चाहिए और गुरु का संश्रय लेना चाहिये।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

अचिन्त्याद्वयक्रमोपदेश - (द्र०-गुह्यादि-अष्टसिद्धिसंग्रह), दु० बौ० ग्र० मा०-1, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, 1987

अद्वयसिद्धि - (द्र०-गु० अ० सि०), दु० बौ० ग्र० मा०-1, के० उ० ति० शि० सं०, सारनाथ, 1987

अभिधर्मकोश (स्वभाष्यसहित) -सं० स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, बौद्ध भारती, वाराणसी, 1971

अभिसमयमञ्जरी - दु० बौ० ग्र० मा०-11, के० उ० ति० शि० सं०, सारनाथ, 1993

कालचक्रतन्त्रम् - विश्वनाथ बैनर्जी, एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, 1985

कृष्णयमारितन्त्रम् (सटीक) - दु० बौ० ग्र० मा०-1, के० उ० ति० शि० सं०, सारनाथ, 1992

क्रियासंग्रह - (द्र०-बौद्धलघुग्रन्थसंग्रह), दु० बौ० ग्र० मा०-14, के० उ० ति० शि० सं०, सारनाथ, 1997

गण्डव्यूहसूत्र - मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, 1960

गुरुपञ्चाशिका - (द्र०-बौद्धलघुग्रन्थसंग्रह), दु० बौ० ग्र० मा०-14, के० उ० ति० शि० सं०, सारनाथ, 1997

गुह्यवज्रविलासिनीसाधन - (द्र०-बौद्धलघुग्रन्थसंग्रह), दु० बौ० ग्र० मा०-14, के० उ० ति० शि० सं०, सारनाथ, 1997

गुह्यसिद्धि - (द्र०-गु० अ० सि०), दु० बौ० ग्र० मा०-1, के० उ० ति० शि० सं०, सारनाथ, 1987

गुह्यादि-अष्टसिद्धिसंग्रह - दु० बौ० ग्र० मा०-1, के० उ० ति० शि० सं०, सारनाथ, 1987

गुह्यावली - (द्र०-बौद्धलघुग्रन्थसंग्रह), दु० बौ० ग्र० मा०-14, के० उ० ति० शि० सं०, सारनाथ, 1997

चक्रसंवरतन्त्रम्-सटीक - दु० बौ० ग्र० मा०-26, के० उ० ति० शि० सं०, सारनाथ, 2002

चर्यामेलापकप्रदीप - दु० बौ० ग्र० मा०-22, के० उ० ति० शि० सं०, सारनाथ, 2000

ज्ञानसिद्धि - (द्र०-गु० अ० सि०), दु० बौ० ग्र० मा०-1, के० उ० ति० शि० सं०, सारनाथ, 1987

तत्त्वज्ञानसंसिद्धि - दु० बौ० ग्र० मा०-23, के० उ० ति० शि० सं०, सारनाथ, 2000

डाकिनीजालसंवररहस्यम् - दु० बौ० ग्र० मा०-8, के० उ० ति० शि० सं०, सारनाथ, 1990

प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि - (द्र०-गु० अ० सि०), दु० बौ० ग्र० मा०-1, के० उ० ति० शि० सं०, सारनाथ, 1987

बोधिचर्यावतार - पी० एल० वैद्य, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, 1960

बोधिपथप्रदीप - भोट-भारतीय ग्रन्थमाला-7, अनु० लोसंग नोरबु शास्त्री, के० उ० ति० शि० सं०, सारनाथ, 1984

बोधिपथक्रमपिण्डार्थ - अनु० के० अंगरूप लाहुली, के० उ० ति० शि० सं०, सारनाथ, 1996

बोधिसत्त्वभूमि - नलिनाक्ष दत्त, के० पी० जायसवाल रिसर्च इंस्टीच्यूट, पटना, 1978

बौद्धलघुग्रन्थसंग्रह - जनार्दन पाण्डेय, दु० बौ० ग्र० मा०-14, के० उ० ति० शि० सं०, सारनाथ, 1997

बौद्धस्तोत्रसंग्रह - जनार्दन पाण्डेय, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, 1994

महायानसूत्रालंकार - एस० बागची, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा 1970

योगिनीसंचारतन्त्रम्-सटीक- दु० बौ० ग्र० मा०-21, के० उ० ति० शि० सं०, सारनाथ, 1998

रत्नगुणसञ्चयगाथा - (द्र०-महायानसूत्रसंग्रह, भाग-1), मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, 1961

लघुतन्त्रटीका - क्लाउडिओ चिकुज़ा, इंस्टीच्यूटो इटालियानो, Is. I.A.O., रोम, 2001

वसन्ततिलक (सटीक) - दु० बौ० ग्र० मा०-7, के० उ० ति० शि० सं०, सारनाथ, 1990

विमलप्रभा (कालचक्रतन्त्रटीका) - भाग-I, भोट-भारतीय ग्रन्थमाला-11, भाग-II, III, दु० बौ० ग्र० मा०-12-13, के० उ० ति० शि० सं०, सारनाथ, 1986, 1994

व्यक्तभावानुगततत्त्वसिद्धि - (द्र०-गु० अ० सि०), दु० बौ० ग्र० मा०-1, के० उ० ति० शि० सं०, सारनाथ, 1987

षडङ्गयोग-सटिप्पणी - फ्रांसेस्को स्फेरा, इंस्टीच्यूटो इटालियानो, Is. I.A.O., रोम, 2000

सद्धर्मचिन्तामणिमोक्षरत्नालंकार - अनु० सम्पा० सोनम ग्याछो, दलाई लामा भोट-भारती ग्रन्थमाला-27, के० उ० ति० शि० सं०, सारनाथ, 2000

हेवज्रतन्त्र - डी० एल० स्नैलग्रोव, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, रिप्रिन्ट, 1980

•

दुर्लभ ग्रन्थों की आधार सामग्री

—ठाकुरसेन नेगी—

[इस शीर्षक के अन्तर्गत 'धी:' के 36वें अंक में 63 महत्त्वपूर्ण हस्तलिखित अवदान ग्रन्थों की सूचना दी गई थी। प्रस्तुत अंक में उससे अन्य 85 हस्तलिखित ग्रन्थों की सूचना दी जा रही है।]

ABBREVIATIONS

ASB	Sanskrit Manuscripts in the Government Collection, ed. by H.P. Shastri, Asiatic Society of Bengal, 1917.
ASHA	Asha Archives, Maitidevi, Kathmandu, Nepal.
BODLEIAN	Catalogue of Sanskrit Manuscripts in the Bodleian Library, Vol.II, 1905.
CAMBRIDGE	Catalogue of the Buddhist Manuscripts in the University Library, Cambridge, ed. by Cecil Bendall, Cambridge, 1883.
COMP./INCOMP.	Complete/Incomplete.
D-2	A Catalogue of Palm-Leaf and Selected Paper Manuscripts belonging to the Darbar Library, Nepal, ed. by H.P. Shastri, Calcutta, 1915.
DEV.	Devanāgarī.
IASWR	Buddhist Sanskrit Manuscripts, Micro-Fische Collection belonging to the Institute for Advance Studies of World Religions, New York.
IOL	Catalogue of the Sanskrit and Prakrit Manuscripts in the Library of India Office, Vol. II.
JBORS	The Journal of the Bihar and Orissa Research Society, Patna.
MCBMBLJ	A Microfilm Catalogue of the Buddhist Manuscripts in Nepal, ed. by H. Takaoka, Buddhist Library, Japan, 1981.
N	Newārī Script.
NP/PL	Nepali Paper/Palm Leaf.
NEPAL-II	Catalogue of Darbar Library, Nepal, Vol.II.
PETROGRAD	Catalogue of Indian Manuscripts, Collection of E.P. Minaev and Some Friends, Compiler N.D. Mironoff, Published by the Russian Academy of Sciences, Petrograd, 1918.
RAK	Rāṣṭriya Abhilekhālaya, Kathmandu, Nepal.
RAS	Catalogue of Buddhist Sanskrit Manuscripts in the Possession of the Royal Asiatic Society, (Hodgson Collection) London.
SMTUL	A Catalogue of the Sanskrit Manuscripts in the Tokyo University Library, Tokyo, Japan, 1965.

Title	Author	Institution	Ms. No.
अनुमोदनविधि Anumodanavidhi		MCBMBLJ	A.163
अपरिमितायुमहायानसूत्रधारणी Aparimitāyumahāyānasūtradhāraṇī		"	CH.362
अभिसमयालङ्कारव्याख्या सुनिर्मला Abhisamayālaṅkāravyākhyā Sunirmalā		RAK	55
अमोघपाशमण्डलधर्मव्याख्यान Amoghapāśamaṇḍaladharmavyākhyāna		MCBMBLJ	CH.6
आभ्यन्तरहोमविधि Ābhyantarahomavidhi		"	CA.77
आचार्याभिषेक Ācāryābhiṣeka		RAK	4/1383, Reel No.B.105/71
आयुसिद्धि Āyusiddhi		MCBMBLJ	CH.367
आर्यजाङ्गुलीभगवतीकल्प Āryajāṅgulībhagavatīkalpa		CAMBRIDGE	1648
आर्यताराकल्पोद्देश Āryatārākalpoddeśa		"	1648

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	7(2-8)	Incomp.	
"	"	22(2-26)	"	Missing fol.1, 10-11, 20
PL	"	107		
NP	"	8		
"	"	49		
"	Dev.	67	Comp.	
"	N	14		
Paper	"	(88a-89b)		
"	"	(77a-78b)		

Title	Author	Institution	Ms. No.
आर्यताराभट्टारिकासाधनोपायिका Āryatārābhaṭṭārikāsādhanopāyikā		RAK	5/86
उष्णीषविजयपूजाविधि Uṣṇīṣavijayapūjāvidhi		MCBMBLJ	GA.21
एकल्लवीरराजेश्वरतन्त्र Ekallavīrarājeśvaratantra		"	A.7
कलशपूजाविधि Kalaśapūjāvidhi		RAK	Reel No. E.1273/16
कलशार्चनादिहोमविधान Kalaśārcanādihomavidhāna		"	" " E.12/4
कलशार्चनादिसंक्षिप्तपूजाविधि Kalaśārcanādisaṁkṣiptapūjāvidhi		"	" " E.2208/4
कल्पैकोद्देश Kalpaikoddeśa		"	" " G.42/15
कालचक्रपूजाविधि Kālacakrapūjāvidhi		MCBMBLJ	CA.48-1

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
PL	N	19	Comp.	
NP	"	50		
"	"	72	Incomp.	Missing fol. 4
"	"	44	Comp.	
"	Dev.	27	"	
"	N	40	"	
"	Dev.	14	"	
"	N	23		

Title	Author	Institution	Ms. No.
कीलनविधि Kīlanavidhi		MCBMBLJ	CH.250
कौलपूजाविधि Kaulapūjāvidhi		RAK 4/1154, Reel No. " 4/1371, " "	A.128/13 A.128/2
कौलमहारहस्यसिद्धार्चन Kaulamahārahasyasiddhārcana		" 4/1035, " "	A.128/6
गणचक्रधूमाङ्गारी Gaṇacakradhūmāṅgārī		MCBMBLJ	CH.250
गणचक्रविधि Gaṇacakravidhi		RAK 5/7871, Reel No.	A.104/10
गणचक्रपूजाविधि Gaṇacakrapūjāvidhi		MCBMBLJ	CH.73
ग्रहमातृकामण्डलदेशना Grahamātṛkāmaṇḍaladeśanā		"	A.161
घटस्थापनपूजाविधि Ghaṭasthāpanapūjāvidhi		RAK	D.27/8

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	15		
"	"	Folding Book	Incomp.	
"	"	105	Comp.	
"	"	35	"	
"	"	5		
"	Dev.	3	"	
"	N	62		
"	"	11 (24-34)	Incomp.	
"	"	27	Comp.	

Title	Author	Institution	Ms. No.
चक्रसंवरमण्डलविधि Cakrasaṁvaramaṇḍalavidhi		RAK	Reel No.H.25/12
चक्रसंवरसमाधियोग Cakrasaṁvarasamādhiyoga		” ”	” ” H.220/2 ” ” E.1414/6
चक्रसंवरसमाधिविधि Cakrasaṁvarasamādhividhi		”	” ” E.1771/2
चक्रसंवरादिचतुःषष्टिसंवरस्तोत्र Cakrasaṁvarādhicatuḥṣaṣṭisaṁvarastotra		”	” ” E.698/12 ” ” E.1374/21
चतुष्पीठतन्त्रोक्तयोगाम्बरविधि Catuṣpīṭhatantroktayogāmbaravidhi		”	” ” E.600/10
चतुःषष्टिबलिविधि Catuḥṣaṣṭibalividhi		”	” ” E.1866/5
चतुःषष्टिबल्यार्चनविधान Catuḥṣaṣṭibalyārcanavidhāna		”	” ” H.398/11
चर्यागीतनिर्देशक्रम Caryāgītanirdeśakrama		”	” ” E.1631/18

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	16	Comp.	
"	"	4	Incomp.	
"	"	7	"	
"	Dev.	54	Comp.	
"	N	20	"	
"	"	8	"	
"	"	62	"	
"	"	8	"	
"	"	54	"	
"	Dev.	15	Incomp.	

Title	Author	Institution	Ms. No.
चैत्यव्रतानुशंसा Caityavratānuśaṁsā		RAK	3/665, A.121/5
जातिवादनिराकरण Jātivādanirākaraṇa	जितारिपाद Jitāripāda	"	1/1697, 1/8, Reel No.A.936/4
जीर्णोद्धारदेव-देवीपूजा Jīrṇoddhāradeva-devīpūjā		MCBMBLJ	GA.28
जीर्णोद्धारविधि Jīrṇoddhāravidhi		RAK "	Reel No.H.190/1 " " E.1274/2
ज्योतिरूपस्तोत्र Jyotirūpastotra		" "	" " H.160/4 " " E.2269/9
ज्योतिष्कावदान Jyotiṣkāvadāna		"	" " H.207/3
ज्ञानसिद्धिनामसाधनोपायिका Jñānasiddhināmasādhanopāyikā		MCBMBLJ	CA.22-2
ज्ञानेश्वरीयोगाम्बरकर्मराजनामधारणी Jñāneśvarīyogāmbarakarma- rājanāmadhāraṇī		RAK	Reel No.D.25/2
ज्ञानोदयपञ्जिकाबाह्यात्मिककुम्भसाधन Jñānodayapañjikābāhyātmika- kumbhasādhana		MCBMBLJ " "	CH.259 CH.407 CH.427

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	Dev.	43	Comp.	
PL	Rañjanā	4	Incomp.	
NP	N	43		
"	"	39	"	
"	"	13	Comp.	
"	"	13	"	
"	Dev.	12	"	
"	"	16	"	
"	N	83	Incomp.	Missing fol. 83
"	"	2-7	"	
"	"	18		
"	"	18		
"	"	26		

Title	Author	Institution	Ms. No.
डाकिनी-शाकिनीभूतप्रेतादिविधि Ḍākinī-Śākinībhūtapretādividhi		RAK	6/1078, Reel No. A.885/4
डाकिनीहृदयमन्त्रधारणी Ḍākinīhṛdayamantradhāraṇī		"	Reel No. D.20/14 " " C.39/6
तक्षकनागराजस्तोत्र Takṣakanāgarājastotra		"	" " E.39/11
तत्त्वज्ञानसंसिद्धिवज्रदेवीस्तुति Tattvajñānasaṁsiddhivajradevīstuti		MCBMBLJ	CH.269
तथागतगुह्यकसूत्र Tathāgataguhyakasūtra		RAK " "	Reel No. E.447/2 " " E.887/23 " " D.57/11, D.58/1
दीक्षाविधि Dīkṣāvidhi		"	4/1078, " " B.106/27
धर्मधातुपूजात्रिपञ्चाशतकलशपूजाविधि Dharmadhātupūjātripañcāśata-kalaśapūjāvidhi		MCBMBLJ	KA.21
धर्मधातुमण्डलप्रक्रिया Dharmadhātumaṇḍalaprakriyā		"	CH.447
धर्मधातुस्वयम्भू-उत्पत्ति Dharmadhātusvayaṁbhū-Utpatti		RAK	4/769, Reel No.A.120/3

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	Dev.	Folding Book	Comp.	
”	N	6	”	
”	”	5	”	
”	”	6	”	
”	”	70		
”	”	83		
”	”	132		
”	”	127		
”	”	104	Incomp.	
”	”	137		
”	”	59		
”	”	117	Comp.	

Title	Author	Institution	Ms. No.
पञ्चगणचक्रपूजाविधि Pañcagaṇacakrapūjāvidhi		MCBMBLJ	CH.35
पञ्चाभिषेकपूजाविधि Pañcābhiṣekapūjāvidhi		"	CH.325
परिकर्मपदोपायिका Parikarmapadopāyikā		RAK	5/86
पारमितापरिकथा(सुभाषितरत्नकरण्डक) Pāramitāparikathā(Subhāṣita- ratnakaraṇḍaka)		MCBMBLJ	CH.276
पितृपाशावदान Pitṛpāsāvadāna		RAK	3/290, Reel No. B.98/11
पोषधानुशंसा Poṣadhānuśaṁsā		"	" " B.23/23
प्रतिष्ठाक्रमविधि Pratiṣṭhākramavidhi		MCBMBLJ	CH.261
प्रव्रज्याव्रतविधि Pravrajyāvratavidhi		"	JA.2
बलिमालिका Balimālikā		CAMBRIDGE	1648

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	32		
”	”	13	Incomp.	Missing fol.3
PL	”	19	Comp.	
NP	”	19		
”	”	21	”	
PL	”	5	Incomp.	
NP	”	46(27-70)	”	Missing fol. 1-24 , 71
”	”	56		
Paper	”	2-15	”	

Title	Author	Institution	Ms. No.
बोधिचर्यावतारटिप्पणी Bodhicaryāvatāraṭippaṇī		RAK "	1/772 Reel No. B. 23/7
बोधिसत्त्वजातकमाला Bodhisattvajātakamālā		"	5/74, " " B.98/4
बोधिसत्त्वावदान Bodhisattvāvadāna		"	5/7653, " " B.99/9
बौद्धदीक्षाविधि Bauddhadīkṣāvidhi		"	4/2193, " " A.861/4
बौद्धपूजापद्धति Bauddhapūjāpaddhati		"	4/270, " " B.24/46
बौद्धषोडशपिण्डविधानविधि Bauddhaṣoḍaśapiṇḍavidhānavidhi		"	6/886, " " A.886/1
भैषज्यनामधारणी Bhaiṣajyanāmadhāraṇī		MCBMBLJ	CH.175
महाप्रत्यङ्गिराविद्याराज्ञी Mahāpratyaṅgirāvidyārājñī		RAK	3/646, Reel No. A.921/1

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
PL	Maithilī	27	Incomp.	
”	”	7	”	
NP	N	45	”	
”	”	17	”	
”	”	94	Comp.	
PL	Bhujimol	14	Incomp.	
NP	N	Folding Book	”	
”	”	12		
”	”	102	Comp.	

Title	Author	Institution	Ms. No.
महामायास्तव Mahāmāyāstava		RAK	1/1645
मारीचिकामुख्यसाधन Mārīcikāmukhyasādhana		"	4/1035, Reel No. B.106/26
मुखजालसुरतक्रमविधि Mukhajālasuratakramavidhi		MCBMBLJ	CA.48-4
योगसिद्धिविधिविधान Yogasiddhividhividhāna		"	CH.377-B
योगाम्बरसमाधिविधि Yogāmbarasamādhividhi		RAK	4/954, Reel No. A.129/26
योगाम्बरसमाधिसाधन Yogāmbarasamādhisādhana		"	3/598, " " B.110/5
राष्ट्रपालबोधिसत्त्वावदान Rāṣṭrapālabodhisattvāvadāna		"	5/7796, " " A.124/8
लोकपालकलशपूजाविधि Lokapālakalaśapūjāvidhi		MCBMBLJ	CA.39-2

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
PL	N	4	Comp.	
NP	”	Folding Book	”	
”	”	15		
”	”	22		
”	”	42	”	
”	Dev.	28	”	
”	”	9	”	
”	N	12		

Title	Author	Institution	Ms. No.
वसुधाराधर्मपद्धति Vasudhārādharmapaddhati		RAK	Reel No.A.127/12
वृहत्(महा)जातकमालावदान Vṛhat(mahā)jātakamālāvadāna		" "	3/640, " " A.1372/4 3/700, " " A.1329/20
शब्दादिप्रामाण्यखण्डनंम् Śabdādiprāmāṇyakhaṇḍanam		"	1/1697, 1/8 " " A.936/4
शिराहुतिविधि Śirāhutividhi		MCBMBLJ	CH.250
शिराहुतिसद्यकुमारीपूजाविधि Śirāhutisadyakumārīpūjāvidhi		RAK	4/1033
सप्तविंशतिनक्षत्रमाला Saptaviṁśatinakṣatramālā		MCBMBLJ	CH.518
सिन्दूरविधि Sindūravidhi		RAK	4/1490, Reel No. A.129/24
सिन्दूराभिषेकविधि Sindūrābhiṣekavidhi		"	" " A.129/12
सिन्दूराभिषेकसर्वाधिकारविधि Sindūrābhiṣekasarvādhikāravidhi		MCBMBLJ	CH.250

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	Folding Book	Comp.	
”	”	375	”	
”	”	293	Incomp.	
PL	Rañjanā	4	”	
NP	N	8		
”	”	Folding Book	Comp.	
”	”	52	Incomp.	
”	”	Folding Book	Comp.	
”	”	40	Incomp.	
”	”	15		

•

येन येन हि बध्यन्ते जन्तवो रौद्रकर्मणा ।
सोपायेन तु तेनैव मुच्यन्ते भवबन्धनात् ।।

रागेण बध्यते लोको रागेणैव विमुच्यते ।
विपरीतभावना ह्येषा न ज्ञाता बुद्धतीर्थिकैः ।।

(हे० तं० 2.2.50-51)

विविध रूपा बौद्ध.देवी तारा

—ठाकुरसेन नेगी—

[बौद्ध धर्म में पाँच ध्यानी बुद्धों की शक्तियों के रूप में विभिन्न देवियों की कल्पना की गई है। इन देवियों में देवी तारा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। देवी तारा को बौद्ध देव-देवी परिवार में लगभग छठीं शती ई० में ही सम्मिलित कर लिया गया था। सातवीं शती ई० के चीनी यात्री ह्वेनसांग ने अपने यात्रा विवरण में देवी तारा की विशेष लोकप्रियता की चर्चा की है।

तारा शब्द संस्कृत के 'तार' धातु से निकला है जिसका अर्थ है 'पार करना'। तात्पर्य है कि तारा दुःख रूपी समुद्र से सत्त्वों को पार कराती हैं। इस प्रकार देवी तारा मनुष्यों को दुःखों से मुक्ति दिलाती है। एक किंवदन्ती के अनुसार भोट-देश में बोधिसत्त्व आर्यावलोकितेश्वर एक समय संसार के दुःखों को देखकर वे करुणा से अत्यधिक द्रवित हुए, उनका अश्रु-बिन्दु जमीन पर गिर पड़ा और उससे वहाँ एक झील बन गई। झील में दो कमल उत्पन्न हुए जिनमें से एक कमल की पंखुडी से श्वेततारा और दूसरे कमल की पंखुडी से श्याम तारा की उत्पत्ति हुई। तिब्बत में प्रचलित इस धारणा के अनुसार कोई भी चरित्रवान स्त्री तारा हो सकती है। प्रस्तुत अंक में साधनमाला में वर्णित देवी तारा के विभिन्न स्वरूपों का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।]

बौद्ध देवकुल के विभिन्न देवी-देवताओं का प्रारम्भिक उल्लेख मञ्जुश्रीमूलकल्प में हुआ है। इस देवसमूह की धारणा एवं उसका स्वरूप गुह्यसमाज में भी निरूपित हुआ है। इसी ग्रन्थ में सर्वप्रथम पाँच ध्यानी बुद्धों एवं उनकी शक्तियों का विवेचन किया है। पाँच ध्यानी बुद्धों एवं उनकी शक्तियों की कल्पना बौद्ध देवकुल की धुरी है। इन्हीं ध्यानी बुद्धों से बौद्ध देवकुल के अन्य सभी देवी-देवता विकसित हुए हैं। बौद्ध देवकुल के विभिन्न देवी-देवताओं के स्वतन्त्र लक्षणिक स्वरूपों का विस्तृत निरूपण बारहवीं शती ई० के साधनमाला (1165 ई०) एवं निष्पन्नयोगावली ग्रन्थों में हुआ है।

बौद्धधर्म में लगभग 6-7वीं शती से तन्त्र का समावेश हुआ तभी से वज्रयानी तान्त्रिक इस धर्म में देवी-देवताओं की कल्पना करने लगे और उन्होंने प्रत्येक देवी-देवता को एक स्वतन्त्र स्वरूप प्रदान किया तथा इनकी पूजा स्तुति के लिये अनेक मन्त्रों की रचना की। साथ ही तन्त्र में उन्हें एक सुनिश्चित स्थान दिया गया जिसके कारण तान्त्रिक शक्ति उपासना का विस्तार प्रारम्भ हुआ। ये अद्भुत शक्तियाँ जगत् (लोक) में विविध रूपों में क्रियाशील हैं। इन्हीं शक्तियों के प्रतीक हैं, जिन्हें हम देवी-देवता कहते हैं। जगत् में इन शक्तियों का नाना प्रकार से उपयोग होता है। इन्हीं अलौकिक शक्तियों की अनुकम्पा प्राप्त

करने के लिये साधक सतत प्रयत्नशील रहते हैं, क्योंकि वह जिस कार्य को अथक परिश्रम से भी नहीं कर पाते, वह इन शक्तियों की कृपा से अनायास सिद्ध हो जाता है। इसलिये वे उनकी अनुकम्पा प्राप्त कर अलौकिक सुख प्राप्त करने के लिये सदा प्रयत्नशील रहते हैं।

सुविदित है कि शक्तियों के उपासनाक्षेत्र में साधकों (भक्तों) ने देवताओं की अपेक्षा देवियों को कहीं अधिक उच्च स्थान प्रदान किया है। इन्हीं दिव्यशक्तियों में एक है—तारा[1] "तारयतीति विग्रह में तॄ सन्तरणे धातु से णिच्+अच्+टाप" प्रत्यय होकर तारा शब्द व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ है जो संसार की विपत्तियों से छुटकारा दिलाकर प्राणियों का उद्धार करती है। दूसरा अर्थ है पार करना। इसके आधार पर हम कह सकते हैं कि तारा की उपासना उपासक को भवसागर पार कर सकने में सहायता प्रदान करती है। इस प्रकार तारा वह देवी है जिसकी सभी भारतीय परम्पराओं (सम्प्रदायों) (वैदिक-बौद्ध आदि) में विशेष मान्यता है।

वैदिक परम्परा इन्हें दश महाविद्याओं[2] में एक मानती है। इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में यद्यपि भिन्न-भिन्न मत हैं, किन्तु इनकी उपासना विधि और नामों में कोई अन्तर नहीं हैं। इनमें काली के बाद तारा का नाम आता है, किन्तु यह दोनों आद्या महाविद्या कही जाती हैं।

तारा का उद्भव

बौद्ध परम्परा में 'तारा' की उद्भावना ताराकल्प[3] तन्त्र के अनुसार—पूर्व समय में 'विश्वप्रभात' नाम लोकधातु में 'दुन्दुभिघोष' नामक अर्हत् सम्यक्सम्बुद्ध का प्रादुर्भाव हुआ

---

1. यह कहना कठिन है कि तारा की अवधारणा बौद्ध देवकुल में कब आयी? ७वीं शताब्दी ई० में भारत का भ्रमण करने वाले प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांग के अनुसार उत्तरी भारत के विभिन्न भागों में तारा की उपासना प्रचलित थी। सम्भव है 8वीं तथा 12वीं शताब्दियों में जब तान्त्रिक विचार बौद्धधर्म में पूरी तरह समा गये तब तारा की लोकप्रियता भी उच्च सीमा पर बढ़ी। तारा का अन्य देव-देवियों पर अधिकार स्थापित हुआ। "तत्रायं मन्त्रः ॐ तारे तुत्तारे तुरे स्वाहा। महाप्रभाव एवायं मन्त्रराजः" इनका यह मन्त्र असीम शक्ति सम्पन्न है और इसे मन्त्रराज की पदवी प्राप्त है। (साधनमाला, साधन सं० 98, पृ० 200-206)
2. दशमहाविद्याएं—1. काली(कालशक्ति), 2. तारा(क्षुधाशक्ति), 3. षोडशी(पूर्णशक्ति), 4. भुवनेश्वरी (ज्ञानशक्ति), 5. भैरवी(भरणशक्ति), 6. छिन्नमस्ता (त्यागशक्ति), 7. धूमावती(दरिद्रताशक्ति), 8. बगला(क्रूरशक्ति), 9. मातंगी(प्रभावशक्ति), 10. कमला(ऐश्वर्यशक्ति)। (प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, पृ० 114)
3. यह तन्त्र ग्रन्थ मूल में उपलब्ध नहीं है, इसका 'कुछ अंश तारानाथ' की एक कृति में उद्धृत है। तारानाथ कृति ग्वें', पृ० 1-2

था। उस समय उनके धर्मशासन के प्रति श्रद्धा रखने वाली एक राजकुमारी भी हुई थी, जिसका नाम 'ज्ञानचन्द्रा' था। उस समय लोगों की आयु असंख्य वर्ष की थी। राजकुमारी 'ज्ञानचन्द्रा' ने उस समय के बौद्धधर्म तथा बोधिसत्त्वों सहित संघ की लाखों वर्षों तक सेवा, पूजा तथा अर्चना की। अन्त में तथागत बुद्ध एवं संघ के द्वारा उनके पुण्य का अनुमोदन करने के बाद उन्होंने प्रथमतया 'बोधिचित्त' की दीक्षा ली। वह बोधिचित्तोत्पाद के बाद प्रणिधान करने लगी। उस समय वहाँ एकत्रित भिक्षुओं ने राजकुमारी से कहा—"तुम इन विपुल पुण्य राशियों के बल पर इसी जन्म में पुरुषभाव प्राप्त कर बुद्धशासन में कार्य करने के लिए प्रणिधान करो"। तुम जैसा प्रणिधान करोगी वैसी ही हो जाओगी। इस विषय को लेकर उन्होंने उन स्थविरों के समक्ष बहुत से प्रश्न उपस्थित कर दिये। राजकुमारी के प्रश्नों का उत्तर देना सबके लिए सुकर नहीं था। अन्त में राजकुमारी ने अपने उद्‌गार के रूप में एक श्लोक कहा, जिसका भाव इस प्रकार है—"तत्त्वतः इस लोक में न स्त्री है और न पुरुष, न आत्मा है, न पुद्‌गल और न कोई ऐसी प्रज्ञप्ति ही है। पुरुषभाव एवं स्त्रीभाव जैसी जो प्रज्ञप्ति है, वह अत्यन्त खोखली है। यह मात्र लोकदुर्बुद्धि की भ्रान्ति है"। लोक में पुरुष के रूप में बोधिप्राप्ति करने वाले तो बहुत दिखाई पड़ते हैं पर स्त्री के रूप में बोधि प्राप्त कर जनहित का कार्य करने वाली कोई नहीं मिलती है। इसलिए जब तक संसार सांसारिक जीवों से शून्य न हो जाय, तब तक मैं स्त्री के रूप में ही सत्त्वार्थ करूँगी। उन्होंने यह भीषण प्रतिज्ञा की। उसके बाद राजमहल में ही रहकर वर्षों तक वह साधना, समाधि का अभ्यास करती रही। अन्त में उन्हें सर्वगतितारक नाम की समाधि प्राप्त हुई। उसके बाद उस समाधि के बल से वह प्रतिदिन (पूर्वाह्ण-अपराह्ण) शतसहस्रकोटि लोगों के दुःखों का तारण (उद्धार) किया करती थी। तब से उनका नाम ज्ञानचन्द्रा से 'तारा' हो गया। उसके बाद सम्यक्सम्बुद्धदुन्दुभिघोष ने भी उनके लिए भविष्यवाणी की कि—"जब तक तुम सम्यक्सम्बोधि प्राप्त नहीं करोगी, तब तक तुम तारा के नाम से ही सत्त्वार्थ करती रहोगी। तुम्हारा सार्थक नाम 'तारा' ही रहेगा[1] । यद्यपि तान्त्रिक मार्ग-अनुष्ठानों के आधार पर यह पहले ही बोधिप्राप्त कर चुकी थी, पर वह अपने प्रणिधान के कारण आज भी बोधिसत्त्वा के रूप में जगतार्थ कर रही है।

तारा सर्वसिद्धिप्रदा हैं। इनके मन्त्रों को सिद्ध करने वाला साधक शीघ्र ही सांसारिक दुःखों से मुक्त हो जाता है। उसे अप्रतिहत शक्ति और अजेयता प्राप्त हो जाती है, वह अतुल धन संपत्ति का मालिक हो जाता है।

---

1. तारोद्भवकुरुकुल्लाकल्प, तो० 3208

बौद्धतन्त्र में दो श्रेणी की ताराएं मिलती हैं—1. रौद्र (भयंकर) और 2. शान्त एवं गम्भीर। साधनमाला में इन दोनों का वर्णन आया है। तारा के मन्त्रपाठ से मनुष्य सभी कठोर असह्य दु:ख से मुक्त हो जाता है। उस व्यक्ति की धारणाएं परिवर्तित हो जाती हैं। उसमें कठोरता से मृदुता आ जाती है। उसका धर्म की ओर झुकाव हो जाता है और साथ ही वह भाग्यशाली एवं ऐश्वर्ययुक्त हो जाता है।

इस प्रकार बौद्धतान्त्रिकों ने तारा को अतिशय सुन्दर एवं उदार माना है। यह उनका शान्त रूप है। इस रूप में तारा वैदिक देवी लक्ष्मी जैसी प्रतीत होती हैं और जब रौद्र रूप धारण करती हैं तब वे देवी दुर्गा के सदृश लगती हैं। तारा की सौम्य एवं भयावह दोनों स्वरूपों के चित्र(थंका) एवं मूर्तियाँ मिली हैं। सौम्य तारा मन्दस्मिता और हाथों में पद्म और वरदमुद्रा से युक्त है। रौद्र (भयावह) तारा का स्वरूप तान्त्रिक मन्त्रों से प्रभावित है। रौद्र तारा त्रिनेत्र एवं गले में कपालों की माला से युक्त तथा विशाल नेत्रों एवं बिखरी केशराशियों वाली है। तारा के शान्त एवं रौद्र रूपों के आधार पर ही बौद्धतान्त्रिकों ने उनके 21 स्वरूपों की कल्पना की है और विभिन्न वर्णभेद और नाम देकर विवेचन किया है। सम्यक्-सम्बुद्ध भाषित "तारानमस्कारैकविंशतिस्तोत्र" जिसका सभी नित्य श्रद्धापूर्वक पाठ करते हैं, उसमें 21 श्लोकों में तारा के 21 स्वरूपों को प्रणाम एवं स्मरण करना ही अभीष्ट है[1]।

गायकवाड ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा से प्रकाशित साधनमाला भाग दो में तारा के लगभग 21 स्वरूपों के साधन मिलते हैं—1. अष्टमहाभयहरिणीतारा, 2. आर्यजाङ्गुलीतारा, 3. आर्यतारा, 4. खदिरवणीतारा, 5. दुर्गोत्तारिणीतारा, 6. धनदतारा, 7. प्रसन्नतारा, 8. महत्तरीतारा, 9. महाचीनक्रमार्यतारा, 10. महाश्रीतारा, 11. मृत्युवञ्चनातारा, 12. वज्रतारा, 13. वरदतारा, 14. वश्याधिकारतारा, 15. षड्भुजशुक्लतारा, 16. सिततारा, 17. पर्णशवरीतारा, 18. भृकुटीतारा। इनके अतिरिक्त 19. एकजटा (तारा), 20. नीलसरस्वती(तारा), 21. कुरुकुल्लातारा, उग्रतारा और महोग्रतारा आदि के साधन अलग हैं। भिन्न भिन्न कामनाओं में इनके भिन्न-भिन्न स्वरूपों की आराधना की जाती है।

---

1. भोटदेश एवं सीमान्त प्रदेशीय लोगों में यह स्तोत्र व्यापक रूप से प्रसिद्ध है। लोग इसका प्राय: नित्य पाठ करते हैं और उनका विश्वास है कि इससे सभी कामनाएं पूर्ण होती हैं, क्योंकि यह स्वयं सम्यक्-सम्बुद्ध(वैरोचन) भाषित है तथा इसमें भगवती तारा के विन्यास भी हैं। (धी: द्वितीय अंक, पृ० 1-3, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी)

कहा जाता है कि सर्वज्ञमित्र[1] (8वीं शताब्दी) कश्मीर के किसी राजा का सौतेला पुत्र था। उसकी माँ बचपन में उसे छत पर सुलाकर फूल चुनने के लिये चली गई, तब एक गिद्ध (गृद्ध) ने शिशु को ले जाकर मध्यदेश के नालन्दा के एक गन्धौल के पर्वत शिखर पर रख दिया। पण्डितों ने उसे वहाँ से उठाकर पाला-पोसा। बड़ा होने पर वह प्रखर बुद्धि का निकला। आगे चलकर वह त्रिपिटकधर भिक्षु बना। भट्टारिका आर्यातारा की साधना करने पर उसको साक्षात् दर्शन मिला और अक्षयभोग प्राप्त हुआ। सब दान कर देने के कारण एक समय उनके पास दान करने का कुछ भी साधन नहीं रहा। इस स्थान पर रहने से अनेक भिक्षुओं को खाली हाथ लौटना पड़ेगा—ऐसा सोच वे दूर दक्षिण प्रदेश को चले गये। किन्तु मार्ग में एक वृद्ध अंधा ब्राह्मण अपने बेटे के पथप्रदर्शन में आ रहा

---

1. तुलनीय—

कश्मीर में सर्वज्ञमित्र नामक अत्यन्त दानी व्यक्ति थे। उनके पास गया याचक अपने अभीष्ट से अधिक पाकर लौटता था। अन्त में उन्होंने अपनी सम्पूर्ण अर्जित सम्पत्ति एक विहार को दान कर दी और केवल चीवर तथा भिक्षापात्र लेकर राजा वज्रमुकुट के राज्य में विचरण करने लगे। एक दिन उन्होंने देखा एक जीर्ण शरीर युक्त वृद्ध व्यक्ति हाँफता हुआ जा रहा है, पूछने पर उसने बताया कि मुझे अपनी कन्या का विवाह करना है, मेरे पास कुछ भी नहीं है, सुना है सर्वज्ञमित्र बड़ा दानी व्यक्ति है, उसी के पास जा रहा हूँ। तब उन्होंने कहा—क्या आप को मालूम नहीं कि उसने अपना सर्वस्व दान कर दिया है, अब उसके पास कुछ नहीं है? यह सुनते ही वह वृद्ध मूर्छित होकर गिर पड़ा। सर्वज्ञमित्र को बड़ा दुःख हुआ, उस वृद्ध को किसी प्रकार होश में लाकर उन्होंने कहा—मैं ही सर्वज्ञमित्र हूँ, मैं आपकी इच्छा अवश्य पूरी करूँगा। उसे लेकर वे राजा वज्रमुकुट के पास गये और एक भार सुवर्ण में अपने को बेचकर सारा सुवर्ण उस वृद्ध को दे दिया तथा स्वयं राजा के पास खड़े हो गये। राजा को किसी ज्योतिषी ने बताया था कि यदि 100 व्यक्तियों की नरबलि देकर उनके रक्त से स्नान करो तो तुम चक्रवर्ती सम्राट हो जाओगे। इसलिए राजा ने एक-एक भार सुवर्ण देकर 99 व्यक्ति खरीद लिए थे, सौवें सर्वज्ञमित्र को पाकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ और उन्हीं व्यक्तियों के साथ इनको भी रख दिया।

वहाँ जाने पर सर्वज्ञमित्र को जब राजा की अभिलाषा ज्ञात हुई तो इन्होंने सोचा हम 100 प्राणियों का उद्धार भगवती तारा के सिवा और कोई नहीं कर सकता, इसलिए वे भगवती तारा के ध्यान में लीन (मग्न) हो गये। इससे प्रसन्न होकर साक्षात् तारा प्रकट हुई और इनके कान में कुछ कहकर अन्तर्धान हो गई। सर्वज्ञमित्र ने राजा को कहला भेजा कि प्रातःकाल बलि देने से पूर्व हम सभी एक साथ नदी में स्नान करेंगे। राजा का आदेश पाकर सिपाही उन सभी (100) लोगों को लेकर नदी तट पर गये। सर्वज्ञमित्र ने भगवती तारा का आदेश सबको बता दिया और सबने एक साथ नदी में डुबकी लगाई तो सबके सब अदृश्य हो गये तथा नदी के किनारे एक-एक भार सुवर्ण की 100 ढेरियाँ दिखाई दीं, जिन्हें देकर राजा ने इन्हें खरीदा था। इस घटना से राजा की समझ में आ गया कि कल जिस भिक्षु को खरीदा था, वह कोई सिद्ध पुरुष है। उसी के कारण यह चमत्कार हुआ। उनकी खोज हुई और मिलने पर राजा उनके चरणों में गिर पड़ा, क्षमा माँगी और अपना सर्वस्व त्याग कर उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया।

(आर्यतारास्रग्धरास्तोत्रसटीक, सं०-पं० जनार्दनशास्त्री पाण्डेय)

था। आचार्य ने पूछा "आप कहाँ जा रहे हैं?" तब ब्राह्मण ने कहा "नालन्दा में सर्वज्ञमित्र रहते हैं जो सभी भिक्षुओं को सन्तुष्ट करते हैं, मैं उनके पास माँगने जा रहा हूँ।" तब आचार्य ने कहा "वह व्यक्ति मैं ही हूँ, सब साधन समाप्त होने के बाद मैं यहाँ आया हूँ।" यह सुनने पर वह ब्राह्मण अत्यन्त दुःखी हुआ, इस पर आचार्य को बड़ी दया आयी। आचार्य ने सुना था कि सरण नामक एक राजा जो मिथ्या दृष्टि में अभिनिविष्ट और किसी क्रूर आचार्य का अनुयायी था। उस राजा ने यह कल्पना की थी कि "108 मनुष्य खरीदकर अग्निहोम करने से उन मनुष्यों की आयु और भाग्य अपने को प्राप्त होगा तथा मोक्ष का कारण भी बनेगा"।

107 मनुष्य तो उसे हाथ लगे थे, बाकी केवल एक ही नहीं मिला था। तब आचार्य ने स्वयं को बेचकर उस ब्राह्मण का उपकार करने की सोच उसे आश्वासन देते हुए कहा, तुम दुःखी मत हो मैं तुम्हारे लिये द्रव्य प्राप्त कर आता हूँ। यह कह कर वे मनुष्य खरीदने वाले राजा के पास गये तो राजा ने उन्हें खरीदा और बदले में आचार्य के शरीर के वजन के बराबर स्वर्ण चुकाया। आचार्य ने वह सारा स्वर्ण ब्राह्मण को प्रदान किया और ब्राह्मण सन्तुष्ट होकर चला गया। तत्पश्चात् आचार्य राजा के बन्दीगृह में चले गये। उन 107 व्यक्तियों ने कहा, 'यदि तुम नहीं आते, तो हमारी रिहाई होने की सम्भावना थी। अब हमें इसी समय जला दिया जायेगा।' यह कहकर वे अत्यन्त दुःखी हुए। उस रात को किसी चौड़े मैदान में लकड़ियों का ढेर लगवाया गया, जिसके मध्य में इन 108 व्यक्तियों को बाँधकर रखा गया। उस मिथ्यादृष्टि वाले आचार्य ने अनुष्ठान प्रारम्भ किया। जब सब लकड़ियाँ आग में जल उठीं तो वे 107 व्यक्ति क्रन्दन करने लगे। इससे आचार्य सर्वज्ञमित्र का हृदय करुणा से पिघल उठा और आचार्य द्वारा आर्यतारा से प्रार्थना करने पर भट्टारिका आर्यतारा सामने प्रकट हुईं और उनके हाथ से अमृत की धारा बहने लगी। यह मूसलाधार पानी किसी अन्य स्थान पर न बरस कर जलती हुई आग पर बरस रहा था। थोड़ी देर में आग बुझ गई और वहाँ एक तालाब प्रादुर्भूत हुआ। तब राजा ने विस्मित होकर आचार्य का आदरपूर्वक सत्कार किया। उन 107 व्यक्तियों को भी पुरस्कार देकर विदा किया। बाद में बृहत् पूजा करने पर भी जब राजा "सम्यक् दृष्टि" में दीक्षित नहीं हुआ और सद्धर्म का प्रचार नहीं हुआ तब दीर्घकाल बीतने पर आचार्य (सर्वज्ञमित्र) ने खिन्न होकर भट्टारिका आर्यतारा से प्रार्थना की कि मुझे अपनी जन्मभूमि पहुँचा दें। आर्यतारा ने कहा—मेरे वस्त्र पकड़कर आँखें मूंद लो। आँखें मूंदने पर तुरन्त आँखें खोलने को कहा गया। आँखें खोलने

पर आचार्य ने देखा कि वह एक विशाल राजप्रसाद से सजे-धजे किसी अदृष्ट देश में पहुँच गये हैं। तब आचार्य ने आर्यतारा से कहा 'मुझे नालन्दा न पहुँचा कर यहाँ क्यों पहुँचा दिया'। तब तारा ने कहा तुम्हारी जन्मभूमि यही है। तब आचार्य ने वहाँ रहकर आर्यतारा का एक विशाल मन्दिर बनवाया। अनेक धर्मोपदेश कर, सब लोगों को सुख पहुँचाया। ये आचार्य रविगुप्त (725 ई०) के शिष्य थे।[1]

इस तरह बौद्ध देवकुल में तारा को वही स्थान प्राप्त है जो वैदिक परम्परा में देवी दुर्गा को प्राप्त है। यदा-कदा तारा को अक्षोभ्य-अमोघ सिद्धि (ध्यानी बुद्ध) की शक्ति कहा गया है। बौद्ध साहित्य के अनुसार वे परम कारुणिक बोधिसत्त्व आर्यावलोकितेश्वर की भी शक्ति हैं और आर्यावलोकितेश्वर की ओर से उन्हें समस्त प्राणियों के दुःख-निवारण के लिये नियुक्त किया गया है। 'तारा' अथवा 'तारिणी' 'तार' द्वारा निकला है, जिसका अर्थ है—'पार' करना। इसके आधार पर हम कह सकते हैं कि तारा की उपासना उपासक को भवसागर पार करने में सहायता प्रदान करती है।

तारा की प्रतिमा अर्द्धपर्यङ्क आसन में कमल पर बैठी दिखलाई जाती है। सिर के पीछे केश ग्रन्थि बड़े आकार की दिखाई देती है, जिस पर ध्यानीबुद्ध की प्रतिमा खुदी रहती है। तारा का दायाँ हाथ वरद मुद्रा में तथा बायाँ हाथ नाग पुष्प युक्त दिखाई पड़ता है। तान्त्रिक ग्रन्थों में तारा के अनेक स्वरूपों का उल्लेख है। तारा के इन स्वरूपों को अलग-अलग पाँच ध्यानी बुद्धों से सम्बन्धित किया गया है। तारा के मुख्यतः दो रूप हैं—श्वेत तारा एवं हरित तारा। श्वेत तारा दिन का और हरित तारा रात्रि का प्रतीक है। श्वेत तारा के हाथ में श्वेत पद्म और हरित तारा के हाथ में नील कमल होता है। रंगों के आधार पर देवी तारा का मुख्यतः पाँच स्वरूपों में निरूपण किया गया है। तारा के इन पाँच वर्णों में श्याम(हरित), श्वेत(सित), पीत, नील एवं रक्त हैं। ये पाँच वर्ण[2] साधकों को बहुत प्रिय हैं।

तारा के विविध रूप

साधनमाला में वर्णित तारा के विभिन्न स्वरूपों का विवेचन इस प्रकार है—

---

1. भारत में बौद्ध धर्म का इतिहास, पृ० 91-92
2. पाँच ध्यानी बुद्धों की पाँच तारा विभिन्न रंगों जैसे श्याम (हरित), श्वेत (सित), पीत, नील और रक्त से पृथक्-पृथक् वर्णित हैं। किन्तु प्रस्तर प्रतिमा में वैसा विभेद सम्भव नहीं है। (प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, पृ० 296)

(i) हरिततारा

हरिततारा स्वर्गिक शक्ति की प्रतीक है। यह देवी भद्रासन, अर्धपर्यंक में आसीन और वरदमुद्रा एवं नीलकमल युक्त है। देवी को चतुर्भुज, षड्भुज एवं अष्टभुज तथा त्रिमुख बताया गया है। साधनमाला में हरिततारा के निम्नलिखित स्वरूप वर्णित हैं—1. महाश्रीतारा, 2. धनदातारा, 3. आर्यतारा, 4. वरदतारा, 5. खदिरवणीतारा, 6. दुर्गोत्तरिणीतारा, 7. महत्तरीतारा, 8. पर्णशबरीतारा तथा 9. वश्याधिकारतारा। इन में महाश्रीतारा, खदिरवणीतारा और पर्णशबरीतारा मुख्य हैं।

1. महाश्रीतारा

इन विभिन्न वर्णों की ताराओं में 'श्यामतारा' प्रमुख हैं। बौद्धतान्त्रिकों ने श्यामतारा को शान्ति रूप में प्रकट किया है। प्रतिमाओं में श्याम तारा को अभिनव यौवन से विभूषित दिखाया है। उनकी उपासना स्त्रियाँ अपने सौन्दर्य की रक्षा के लिये करती हैं। श्याम तारा के अनेक प्रभेदों में महाश्रीतारा प्रमुख हैं। साधनमाला साधन सं० 116 में इनके स्वरूप का ऐसा विवरण मिलता है—वे हरे रंग की हों व अपने दो हाथों से व्याख्यानमुद्रा प्रदर्शित करती हुई हों, उनके चार हाथ हों, उनके मुकुट पर अमोघसिद्धि हो तथा दो कमल उनके दोनों हाथों में हों।

"महाश्रीतारां चन्द्रासनस्थां श्यामवर्णां द्विभुजां हस्तद्वयेन व्याख्यानमुद्राधराम् एकवक्त्रां सर्वालंकारभूषितां पार्श्वद्वयेनोत्पलशोभां सुवर्णसिंहासनोपरि अपाश्रयादिशोभां नानापुष्पाशोकचम्पकनागेश्वरपारिजातकादिभी राजितामममोघसिद्धिमुकुटिनीम्"।

(साधनमाला, साधन सं० 116, पृ० 244-245)

2. धनदतारा

साधनमाला (साधन सं० 107) में इस तारा के रूप का वर्णन है। वे हरा रंग लिये श्याम रंग की हैं (हरित श्याम)। वे एक मुखी एवं चार भुजाओं वाली हैं। चारों हाथों में क्रमशः अक्षमाला, वरदमुद्रा का संकेत, उत्पल व पुस्तक है। उनके मुकुट पर अमोघसिद्धि की प्रतिकृति है। बौद्धतान्त्रिकों ने इन्हें धनदायिनी देवी के रूप में माना है। इनका प्रसिद्ध मन्त्र 'ॐ तारे तुत्तारे तुरे धनं मे दद स्वाहा' है। कहा जाता है कि इस मन्त्र के उच्चारण से तुष्ट होकर ये देवी अपने भक्तों(साधकों) को अतुल द्रव्य प्रदान करती हैं। इसीलिये इन्हें 'धनदतारा' कहा गया है।

''चन्द्रासनप्रभां सौम्यां सत्त्वपर्यङ्कस्थां हरितश्यामामेकवदनां द्विलोचनां चतुर्भुजां अक्षसूत्रवरदोत्पलपुस्तकधरां विचित्रवस्त्रालङ्कारवतीम्।'' (सा० मा०, सा०सं० 107, पृ० 219)

3. आर्यतारा

साधनमाला (साधन सं० 92) में वे अर्द्धपर्यङ्क (ललितासन) मुद्रा में बैठी हैं। दायां हाथ वरदमुद्रा में है तथा बायां हाथ उत्पल लिये है। अपने मुकुट पर अमोघसिद्धि की प्रतिमूर्ति धारण किये हैं।

''आर्यतारां श्यामवर्णां वामेनोत्पलधरां दक्षिणे वरदां भद्रासनस्थितामिमोघ-सिद्धिमकुटीम्''। (सा० मा०, सा० सं० 92, पृ० 178)

4. वरदतारा

इस देवी तारा की भी अपनी विशेषता है। इसके विशिष्ट गुणों में अर्द्धपद्मासन, बायां पैर कमलासन पर, दायां पैर लटका हुआ है। दायां हाथ वरदमुद्रा में तथा बायें हाथ में नीलोत्पल, सिर पर मुकुट, देह में आभूषण आदि की गणना होती है। किसी-किसी मूर्ति के सिरे पर अमोघसिद्धि की मूर्ति दिखाई पड़ती है, परन्तु अधिकतर मूर्तियों में कोई ध्यानी बुद्ध नहीं दिखाई देते हैं। इस तारा के दक्षिण पार्श्व में अशोककान्ता, मारीची तथा महामायूरी खड़ी है।

''श्यामताँकारजां तारां श्यामवर्णां सर्वालङ्कारधरां वामे नीलोत्पलवतीं दक्षिणे वरदां अर्द्धपर्यङ्कनिषण्णां दक्षिणपार्श्वे अशोककान्ताम्''। (सा० मा०, सा० सं० 91, पृ० 177)

5. खदिरवणीतारा

साधनमाला (साधन सं० 89) में इस देवी के रूप का वर्णन मिलता है। वे दायें हाथ को वरद मुद्रा में रखे तथा बायें हाथ में उत्पल लिये हैं। उनके साथ अशोककान्ता, मारीची व एकजटा क्रमशः दायें व बायें ओर हैं। यह देवी अपने मुकुट पर अमोघसिद्धि की प्रतिमूर्ति धारण किये है। इनके रंग को लेकर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद हैं। इस साधन में उनको 'हरिताभ' कहा है। किन्तु अधिकांश विद्वान् उन्हें पीतवर्णी भी मानते हैं। इस तारा की बिहार से मिली लगभग 12वीं शती ई० की एक मूर्ति भारतीय संग्रहालय, कलकत्ता में स्थित है जो अर्धपर्यंकासन में पद्म पर विराजमान है। उनके शीर्षभाग में पाँच ध्यानी बुद्धों

की मूर्तियाँ हैं। देवी के दोनों हाथ व्याख्यानमुद्रा में हैं और उनके पार्श्वों में सनाल पद्म चित्रित है।

"हरिताभामोघसिद्धिमुकुटीं वरदोत्पलधारिदक्षिणवामकरां अशोककान्ता-मारीच्येकजटाव्यग्रदक्षिणवामदिग्भागां दिव्यकुमारीमलङ्कारवतीं ध्यात्वा"।

(सा० मा०, सा० सं० 89, पृ० 176)

6. दुर्गोत्तारिणीतारा

साधनमाला (साधन सं० 111) में इस देवी के स्वरूप का वर्णन देखने को मिलता है। यथा—"नमो भगवत्यै आर्य तारायै, ॐ तारे तुत्तारे तुरे वीरे दुर्गादुत्तारय ह्रीं ह्रीं ह्रीं सर्वदुःखान्मोचनि भगवति दुर्गोत्तारिणि महायोगेश्वरि ह्रीं नमोऽस्तु ते स्वाहा। एतां भगवतीं दुर्गोत्तारिणीतारां मुहुः श्यामां चतुर्भुजां वामेन पाशं दक्षिणेनाङ्कुशधारणीं भक्तमाश्वासयन्तीं दक्षिणे वरदां दिव्यमालाम्बरधारिणीं वामेन नीलोत्पलहस्तां सितवस्त्रप्रावृतदेहां पद्मासनस्थां त्रिकालं ध्यायेत्"। (सा० मा०, सा० सं० 111)

7. महत्तरीतारा

साधनमाला (साधन सं० 90) में इस तारा का वर्णन— "ततश्चन्द्रे ताँसंभूतां सितोत्पलस्थताँकारोद्भूतां तारां श्यामां द्विभुजां दक्षिणे वरदां वामे सनालेन्दीवरधरां सर्वाभरणभूषितां पद्मचन्द्रासने पर्यङ्कनिषण्णां चिन्तयेत्"। (सा० मा०, सा० सं० 90, पृ० 176-177)

8. पर्णशबरीतारा

पर्णशबरीतारा के साधनमाला में (148-150) तीन साधन मिलते हैं। साधन सं० 149 के अनुसार इस देवी को त्रिमुखी, त्रिनेत्री व षड्भुजी कहा जाता है। यह हरित वर्ण की है। वे दक्षिण के तीन हाथों में वज्र, परशु एवं शर (बाण) लिए हुए हैं और वाम के तीन हाथों में तर्जनीपाश, पल्लव, एवं धनुष लिए हैं। उनके मुस्कराते मुख पर क्रोध है। वे व्याघ्रचर्म पहने हुए हैं। उनका उदर बाहर की ओर निकला हुआ है। उनके मुकुट पर अमोघसिद्धि अंकित है।

"पर्णशवरीं हरितां त्रिमुखां त्रिनेत्रां षड्भुजां.......दक्षिणवामाननां वज्रपरशुदक्षिण-करत्रयां कार्मुकपत्रच्छटासपाशतर्जनीवामकरत्रयां सक्रोधहसिताननां........अमोघसिद्धि-मुकुटीनाम्।" (साधनमाला, साधन सं० 149)

9. वश्याधिकारतारा

साधनमाला (साधन सं० 92) में इस तारा के सम्बन्ध में निम्नलिखित वर्णन है— यह देवी तारा श्याम वर्णा, द्विभुजी, वरदमुद्रासनासीन है।

"आर्यतारां श्यामवर्णां वामेनोत्पलधरां दक्षिणे वरदां भद्रासनस्थिताम-मोघसिद्धिमुकुटीं ध्यात्वा"। (सा० मा०, सा० सं० 92, पृ० 178)

आचार्य वसुबन्धु के काल में दण्डकारण्य प्रदेश के एक सेठपुत्र ने उत्पन्न होते ही आचार्य वसुबन्धु से बिना कठिनाई के सभी विद्या सीख ली। उन्हीं दिनों उस (सेठ पुत्र) को खाने के लिये आचार्य से मुट्ठी भर माष मिला। वह उसे खाने के विचार से वहाँ के तारा मन्दिर में गया। आर्यतारा को बिना चढ़ाये माष खाना उचित नहीं होगा, यह सोचकर उसने कुछ माष देवी तारा को चढ़ाये, तो माष के दाने लुढ़कते गये। इस पर वह बालक होने के कारण रो पड़ा। तब आर्यातारा ने साक्षात् दर्शन देकर कहा—"तू रो मत, मैं तुझे आशीर्वाद देती हूँ"। तत्क्षण वह बालक अनन्तमति हो गया और तारा की मूर्ति माषतारा के नाम से प्रसिद्ध हुई। बाद में वह बालक त्रिपिटक का महास्थविर बन गया। विशेषकर वह महायान एवं हीनयान के समस्त अभिधर्मों में निपुण हो गये और आर्य रत्नकूट की आवृत्ति करते सब कार्य आर्यातारा के निर्देशन में करते थे।[1]

एक समय कश्मीर के एक विहार में देवी तारा की एक प्रतिमा थी। इस प्रतिमा को कुष्ठ निवारण करने की अद्भुत शक्ति थी। आचार्य रविगुप्त जो पाँचों प्रकारों के विज्ञान में निपुण तथा तन्त्रशास्त्र में पूर्ण प्रवीण थे, सहसा कुष्ठरोग से आक्रान्त हो गये। वे उस विहार के पश्चिम में एक झोपड़ी बनाकर तीन महीनों तक साधना में लगे रहे। तत्पश्चात् विहार का दरवाजा स्वतः पश्चिम की ओर घूम गया तथा देवी तारा ने कहा—"तुम क्या चाहते हो?" आचार्य रविगुप्त ने उत्तर दिया—"मैं कुष्ठ रोग से त्राण चाहता हूँ।" उसी क्षण मात्र एक छोटे-से माथे के चिह्न को छोड़कर उनका सम्पूर्ण शरीर पूर्ववत हो गया। इसके उपरान्त आचार्य रविगुप्त ने देवी तारा से पूछा—"क्या कारण है कि मेरे माथे का घाव पूर्ववत् है?" तब देवी तारा ने कहा—"पूर्व जन्म में तुम व्याध के कुल में उत्पन्न हुए थे तथा तुमने अनेक जानवरों को मारकर जंगल में आग लगा दी थी। फलस्वरूप तुम्हें

1. द्र०-भारत में बौद्धधर्म का इतिहास, पृ० 72

नरक में जन्म लेना पड़ा। यह तुम्हारे पाँच सौ पुनर्जन्मों का अन्तिम जन्म है।'' ऐसा कहकर तारा ने मन्त्र के साथ एक साधन प्रदान कर कहा कि तुम इससे अनेक तरह के अद्भुत कार्य कर सकते हो। तत्पश्चात् रविगुप्त ने तारादेवीस्तोत्रैकविंशतिसाधन की रचना की जिसे उन्होंने राहुलश्री, विनयश्री तथा शाक्यश्रीभद्र को सिखलाया।[1]

(ii) श्वेततारा

वर्ण के आधार पर तारा का दूसरा वर्ण 'श्वेत' (सित) है। यह पवित्रता एवं स्वर्गिक ज्ञान की देवी है। इनके मुकुट पर अक्षोभ्य ध्यानी बुद्ध की मूर्ति उत्कीर्ण है। यह देवी पूर्ण विकसित पद्म और वरदमुद्रा युक्त आसीन है। साधनमाला में श्वेततारा के निम्नलिखित स्वरूप वर्णित हैं—1. सिततारा, 2. अष्टमहाभयहरिणीतारा, 3. मृत्युवञ्चनातारा, 4. आर्यजाङ्गुलीतारा, 5. वक्ष्याधिकारतारा एवं 6. षड्भुजतारा।

10. सिततारा

बौद्धों में 'सिततारा पवित्रता की देवी मानी गई हैं। ये बोधिसत्त्व आर्यावलोकितेश्वर के साथ उनकी शक्ति रूप में उपस्थित की गई हैं। ये विभिन्न रंगों के वस्त्र एवं अलंकार धारण किये हुए हैं। भोट के आचार्यों में सिततारा तथा श्यामतारा बहुत विख्यात हैं। भोट देश में एक किंवदन्ती के अनुसार बोधिसत्त्व आर्यावलोकितेश्वर के दक्षिण चक्षु (नेत्र) से गिरे अश्रु बिन्दु से 'सिततारा' एवं उनके वाम चक्षु से गिरे अश्रु बिन्दु से 'श्यामतारा' की उत्पत्ति हुई है। इन आचार्यों का कथन है कि पवित्रता की यह देवी तारा सभी सद्गृहणियों में स्वतः अवतीर्ण होती हैं और उन्हें सौभाग्य प्रदान करती हैं।

''तारां भगवतीं शुक्लां त्रिनेत्रां चतुर्भुजां पंचतथागतमुकुटीं नानालंकारां भुजद्वयेनोत्पलमुद्रां दधानां दक्षिणभुजेन चिन्तामणिरत्नसंयुक्तवरदां सर्वसत्त्वानामाशां परिपूरयन्तीं वामेनोत्पलमंजरीं विभ्राणां ध्यायात्।'' (सा० मा०, सा० सं० 104, पृ० 215)

11. अष्टमहाभयहरिणीतारा

साधनमाला (साधन सं० 99) में वे श्वेतवर्णी हैं। दायें हाथ में वरदमुद्रा का संकेत तथा बायें हाथ में उत्पल है। आठ अन्य देवियों के मध्य में वे अर्द्धपर्यङ्क मुद्रा में बैठी हैं। ये 'सिततारा' वर्ग के अन्तर्गत आती हैं।

---

1. द्र०-दि ब्लू एनाल्स, पृ० 1050-51, तो० 1685, 1686

यस्याः स्मरणमात्रेण नष्टमष्टभयानकम् ।
तां प्रणम्य प्रवक्ष्यामि साधनं च शिशो शृणु ।।

...तेन देवी समुत्पाद्य सर्वालङ्कारभूषिताम् ।
सव्यतो वरदां देवीं वामे तूत्पलकरां तथा ।।

एकवक्त्रां सुबिम्बां च नवयौवनसंस्थिताम् ।
सुगन्धिपुष्पकेशां च पद्मचन्द्रोपरि स्थिताम् ।
...अष्टदेव्यन्तराले च भावयेत् ताराखपिणीम् ।।

(सा० मा०, सा० सं० 99, पृ० 207)

12. मृत्युवंचनातारा

साधनमाला (साधन सं० 102, 103, 112) में तारा के श्वेतवर्णी रूप का वर्णन मिलता है जो वज्रपर्यङ्क मुद्रा में बैठी हैं। वे दायें हाथ से वरदमुद्रा का प्रदर्शन कर रही हैं तथा बायें हाथ से उत्पल लिये हुए हैं। सिर के केश सुव्यवस्थित हैं व रत्नजटित मुकुट द्वारा बँधे हैं। सिर के चारों ओर लाल प्रभामण्डल है। उनके तीसरा नेत्र है। वे रत्नजटित आभूषण पहने हैं। सम्पूर्ण चित्रण श्वेतमण्डल के साथ है। यह रूप मृत्युवंचनातारा का है। इस रूप की सर्वाधिक विशिष्टता यह है कि यह देवी वक्षस्थल पर श्वेतकांति का चक्र धारण करती हैं।

सितारविन्दमध्यस्थां तां भूतां चन्द्रविष्टराम् ।
आबद्धवज्रपर्यङ्कां वरदोत्पलधारिणीम् ।।

शरच्चन्द्रकराकारां पृष्ठचन्द्रसमाश्रिताम् ।
सर्वालङ्कारसम्पूर्णां षोडशाब्दवपुःक्रमाम् ।।

ध्यात्वाऽऽर्यतारां हृदये तस्याश्चक्रं सितद्युति ।
अष्टकोष्ठकमष्टाभिरक्षरैः परिपूरितम् ।।

(सा० मा०, सा० सं० 102, पृ० 212)

13. आर्यजाङ्गुलीतारा

साधनमाला (साधन सं० 106) में इस देवी तारा के तीन मुख्य रूप प्राप्त होते हैं। प्रथम रूप में यह चतुर्भुजी, वीणावादिनी, सर्प अभयमुद्राधारिणी, श्वेतांगी, जटामुकुटिनी

होती हैं। द्वितीय रूप में यह हरितांगी, त्रिशूल-मयूरपंख-सर्प-अभयमुद्राधारिणी हैं। तृतीय रूप में यह त्रिमुख, षड्भुज, पीतांगी तथा सर्पारूढ हैं। इस तारा के हाथों में खड्ग, वज्र, बाण, तर्जनी, पाश, धनुष एवं पद्म होते हैं। इन तीन ताराओं की मुकुट पर अक्षोभ्यध्यानी बुद्ध अलंकृत हैं।

"शुक्लपँकारजपद्मं शतपत्रं शुक्लं तदुपरि अकारजचन्द्रमण्डलोपरि शुक्ल ह्वी:कारं स्फुरदनेकरश्मिनिकरं तद्भवां जाङ्गुलीं भगवतीं भावयेत् शुक्लवर्णां चतुर्भुजां जटामुकुटिनीं शुक्लां शुक्लोत्तरीयां सितरत्नालङ्कारवतीं शुक्लसर्वैर्भूषितां सत्त्वपर्यङ्कासनासीनां मूलभुजाभ्यां वीणां वादयन्तीं द्वितीयवामदक्षिणभुजाभ्यां सितसर्पाभयमुद्राधरां चन्द्रांशुमालिनीं ध्यायात्"।

(सा० मा०, सा० सं० 106, पृ० 217)

"आर्य जांगुली.....पीतां त्रिमुखां षड्भुजां......खड्वज्रबाणदक्षिणहस्तत्रयं सतर्जनी-पाशविषपुष्पकार्मुकवामकरत्रयां.....कुमारीलक्षणोज्ज्वलां अक्षोभ्याक्रान्तमस्तकाम्।"

(साधनमाला, साधन सं० 118)

14. षड्भुजशुक्लतारा

साधनमाला (सा० सं० 105) में यह देवी तारा शुक्लवर्णा, त्रिमुखी, त्रिनेत्री एवं षड्भुजी हैं। इनके दक्षिण हस्त वरदमुद्रा, अक्षसूत्र एवं वाण तथा वामहस्त उत्पल, पद्म एवं धनुष युक्त होते हैं। इनके मुकुट में अमोघसिद्धि की मूर्ति होती है। यह देवी अर्द्धपर्यङ्कमुद्रा में आसीन है।

"भगवतीं सिततारां त्रिमुखां षड्भुजां पीतनीलदक्षिणेतरमुखीं प्रतिमुखं त्रिनेत्रां वरदाक्षसूत्रशरधरदक्षिणत्रिकरां उत्पलपद्मचापधरवामपाणित्रयां अर्द्धपर्यङ्कनिषण्णां चन्द्रासनचन्द्रप्रभां जटामुकुटस्थितामोघसिद्धिं पंचमुण्डविभूषितमस्तकां अर्द्धचन्द्रकृतशेखरां नानालङ्कारधरां द्विरष्टवर्षाकृतिमष्टश्मशानमध्यस्थितां हृच्चन्द्रस्थितनिजबीजमात्मानं विचिन्त्य"। (सा० मा०, सा० सं० 105, पृ० 216)

किसी समय आचार्य स्थिरमति से सूत्र और अभिधर्मपिटक का एक बार श्रवण करने से ही आचार्य चन्द्रगोमिन् को ज्ञान प्राप्त हो गया। उसके बाद अशोक नामक विद्याधर आचार्य से उपदेश ग्रहण कर विद्यामन्त्र की साधना की तो आर्यावलोकितेश्वर एवं तारा के साक्षात् दर्शन मिले। तत्पश्चात् उसी राज्य की तारा नामक राजकन्या से विवाह किया और राजा ने एक जनपद भी उन्हें दे दिया। एक बार जब उस राजकन्या की दासी

ने राजकन्या को 'तारा' कहकर पुकारा तो आचार्य चन्द्रगोमिन् के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि "इष्टदेवी के नाम के समान की लड़की से विवाह कर मैंने उचित नहीं किया"। ऐसा सोचकर आचार्य देशान्तर जाने की तैयारी करने लगे। तब राजा ने यह जानकर आदेश दिया "यदि वे (चन्द्रगोमिन्) मेरी कन्या के साथ नहीं रहें तो उन्हें सन्दूक में बन्द कर गंगा में फेंक दिया जाय"। राजा द्वारा वैसा किया जाने पर आचार्य ने भट्टारिका आर्य तारा से प्रार्थना की। फलतः वे गंगा और समुद्र के संगम (एक समुद्री टापू) पर पहुँचे। कहा जाता है कि वह द्वीप आर्यातारा ने निर्मित किया है तथा चन्द्रगोमिन् के वहाँ निवास करने के कारण उसका नाम 'चन्द्रद्वीप' पड़ा।[1]

एक समय आचार्य चन्द्रगोमिन् ने आचार्य चन्द्रकीर्ति द्वारा रचित 'समन्तभद्र' नामक सुन्दर श्लोकात्मक शास्त्र को देखा और स्वयं अपने द्वारा रचित 'चन्द्रव्याकरण' की रचना उन्हें अच्छी नहीं जान पड़ी और इसके द्वारा जगत् कल्याण नहीं होगा ऐसा सोच अपनी पुस्तक कुएं में फेंक दी। तब भट्टारिका आर्यतारा ने व्याकरण किया—"तुम्हारी यह पुस्तक परहित की सद्भावना से रची गई है, अतः भविष्य में यह प्राणियों के लिये अत्यन्त उपयोगी होगी। चन्द्रकीर्ति ने पाण्डित्यमान से अपनी पुस्तक की रचना की है। अतः वह पुस्तक परकल्याण में कम उपयोगी होगी। अतः अपनी पुस्तक कुएं से निकालो"। तदनुसार आचार्य ने अपनी पुस्तक कुएं से निकाल ली और तब से उस कुएं का जल पीने से लोग प्रतिभासम्पन्न हो जाते थे। 'चन्द्रव्याकरण' का तब से आज तक व्यापक प्रचार होता आ रहा है। बौद्ध एवं अबौद्ध इसका अध्ययन करते हैं। समन्तभद्र व्याकरण तो अचिर में ही नष्ट हो चला और आज इसकी प्रतिलिपि भी उपलब्ध नहीं है।[2]

ऐसी भी अनुश्रुति है कि एक समय किसी गरीब वृद्धा की एक रूपवती कन्या थी। उसका विवाह करने के लिये साधन का अभाव था, अतः वह वृद्धा विभिन्न राज्यों में भिक्षा माँगने चली गई। नालन्दा पहुँच कर उसने चन्द्रकीर्ति से भिक्षा माँगी, जिनके पास प्रचुर मात्रा में धन होने की ख्याति थी। इस पर आचार्य चन्द्रकीर्ति बोले "मैं भिक्षु होने के नाते अपने पास अधिक सामान नहीं रखता। थोड़ा-बहुत है भी तो मन्दिर और संघ के लिये चाहिये। इसी मकान में आचार्य चन्द्रगोमिन् रहते हैं, वहाँ जाकर याचना करो"।

---

1. द्र०-भारत में बौद्धधर्म का इतिहास, पृ० 82
2. द्र०-भारत में बौद्धधर्म का इतिहास, पृ० 84

ऐसा कहने पर वृद्धा चन्द्रगोमिन् के यहाँ माँगने गई, तो उनके पास केवल पहनने को एक पट वस्त्र और एक आर्याष्टसहस्रिका की पुस्तक के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। वहाँ एक "भित्तिखचिततारा" का चित्र था। आचार्य का हृदय वृद्धा के दारिद्र्य पर पिघल गया और उन्होंने उस चित्र से प्रार्थना कर आँसू बहाये। वह चित्र साक्षात् तारा के रूप में परिणत हो गया और अपनी देह से विविध रत्नों से निर्मित अमूल्य आभूषणों को उतारकर आचार्य को प्रदान किया और उन्होंने (आचार्य ने) उस वृद्धा (स्त्री) को प्रदान किया जिससे वह वृद्धा सन्तुष्ट हुई। चित्रांकित तारा के भूषणरहित हो जाने से वह अलंकारहीन तारा के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस प्रकार चिरकाल तक प्राणिमात्र का हित सम्पादित कर, अन्त में वे पोतल[1] को चले गये।

(iii) पीततारा

वर्ण के आधार पर तारा का तीसरा वर्ण 'पीत' है। जिसमें 'वज्रतारा' प्रमुख हैं। पीततारा बहुभुज एवं बहुमुख हैं। साधनमाला में इनके निम्नलिखित स्वरूप वर्णित हैं— 1. वज्रतारा, 2. प्रसन्नतारा, 3. पर्णशबरीतारा और 4. भृकुटीतारा।

15. वज्रतारा

यह देवी तारा सुनहरे पीले रंग की तथा वज्रपर्यङ्क मुद्रा में बैठी हैं। वे चतुर्मुखी व अष्टभुजी, दायें हाथ में वज्रपाश, शंख, शर एवं बायें हाथ में वज्रांकुश, उत्पल, धनुष एवं चौथा हाथ तर्जनी मुद्रा में है। भारतीय संग्रहालय कलकत्ता और ढाका संग्रहालय में वज्रतारा की दो विशिष्ट मूर्तियाँ हैं। इनमें देवी तारा पद्म पर आसीन हैं।

साधनमाला (साधन सं० 93) में इन्हें 'पंचबुद्धमहामुकुटी' अर्थात् जिनके मुकुट पर 'पाँच ध्यानी बुद्ध' हैं तथा साधन सं० 94, 97 तथा 110 में उन्हें 'चतुर्बुद्धमहामुकुटी'[2]

---

1. एक समय आचार्य चन्द्रगोमिन् जम्बूद्वीप से जब धान्य श्री द्वीप आ रहे थे, तो पहले आचार्य द्वारा शेषनाग का अपमान किये जाने के कारण उसने वैर रखकर, समुद्री लहरों से जलयान नष्ट करने का प्रयास किया। तब समुद्र के बीच से आवाज आई कि चन्द्रगोमिन् को निकाल दो। तारा से प्रार्थना करने पर आर्यातारा अपने पाँच परिवार सहित गरुड पर आरूढ हो, सामने आकाश में प्रकट हुई और नागगण भयभीत हो, भाग खड़े हुए। जलयान क्षेमपूर्वक श्रीधान्यकटक पहुँचा। वहाँ आचार्य ने श्रीधान्यकटक चैत्य की पूजा की और 100 तारा मन्दिर तथा 100 आर्यावलोकितेश्वर के मन्दिर बनवाये। उसके बाद वे पोतल पर्वत की ओर चले गये। (भारत में बौद्धधर्म का इतिहास, पृ० 85-86)
2. साधनमाला, साधन सं० 97, पृ० 196 में 'चतुर्बुद्धमहामुकुटीम्' पाठ दिया है। शेष स्वरूप वही है।

अर्थात् जिनके मुकुट पर 'चार ध्यानी बुद्ध' हैं, कहा है। इस देवी के साधन सं० 96, 97 तथा 110 क्रमशः आचार्य नागार्जुन, आचार्य धर्माकरमति एवं आचार्य रत्नाकरशान्ति द्वारा विरचित हैं। सम्भव है उस समय इस देवी की महत्ता सर्वोच्च रही होगी। तन्त्र साधकों को यह देवी बहुत प्रिय हैं क्योंकि उनके अनुसार इस देवी की किसी भी रूप में उपासना करने पर यह अवश्य सिद्धि प्रदान करती हैं। कहा भी जाता है यदि कोई साधक एक वस्त्र के छोर पर गाँठ बाँध कर 'ॐ तारे तुत्तारे तुरे स्वाहा' इस मन्त्र का सात बार उच्चारण करता है तो वह साधक निर्भय होकर किसी भी दुर्गम स्थान में जा सकता है। क्योंकि उस साधक को देखते ही वे भयानक हिंसक प्राणी जैसे—सिंह, हाथी, भालू, सांप आदि उसके वश में हो जाते हैं।

मातृमण्डलमध्यस्थां तारादेवीं विभावयेत् ।
अष्टबाहुं चतुर्वक्त्रां सर्वालङ्कारभूषिताम् ।।

कनकवर्णनिभां भव्यां कुमारीलक्षणोज्ज्वलाम् ।
पंचबुद्धमहामुकुटीं वज्रसूर्याभिषेकजाम् ।।

नवयौवनलावण्यां चलत्कनककुण्डलाम् ।
विश्वपद्मसमासीनां रक्तप्रभाविभूषिताम् ।।

वज्रपाशं तथा शंखं सच्छरोद्यतदक्षिणाम् ।
वज्राङ्कुशोत्पलधनुस्तर्जनीवामधारिणीम् ।।

(सा० मा०, सा० सं० 93, पृ० 179)

16. भृकुटीतारा

यह पीतवर्ण, एकमुखी, त्रिनेत्रयुक्त एवं चतुर्भुजी देवी है, जिसके दायें हाथ में वरदमुद्रा, अक्षसूत्र, बायें हाथ में त्रिदण्डी तथा कमण्डलु होते हैं। इस देवी तारा के मुकुट में अमिताभ ध्यानी बुद्ध की आकृति होती है।

''चतुर्भुजैकमुखीं पीतां त्रिनेत्रां नवयौवनां वरदाक्षसूत्रदक्षिणकरां त्रिदण्डी-कमण्डलुधरवामकरां......''। (साधनमाला, साधन सं० 169-170)

17. पर्णशबरीतारा

साधनमाला साधन सं० 148 के अनुसार इस देवी को त्रिमुखी, त्रिनेत्री व षड्भुजी कहा जाता है। यह पीतवर्ण की है। वे दक्षिण के तीन हाथों में वज्र, परशु एवं बाण लिए

हैं तथा वाम के तीन हाथों में तर्जनी, पाश, पल्लव एवं धनुष लिए हैं। वस्त्राभूषणों से अलंकृत इस देवी का मुकुट पुष्पहार एवं अक्षोभ्य से मण्डित है तथा वे विघ्नों को पैरों से कुचलती हुई अपनी तर्जनी से डरा रही हैं।

"भगवतीं पीतवर्णां त्रिमुखां त्रिनेत्रां षड्भुजां........दक्षिणभुजैः वज्रपरशुशरधारिणीं वामभुजैः सतर्जनिकापाशपर्णपिच्छकाधनुर्धारिणीं पुष्पाबद्धजटामुकुटस्थ अक्षोभ्यधारिणीं .....अधो विघ्नान् निपात्य....... ।" (साधनमाला, साधन सं० 148)

18. प्रसन्नतारा

इस 'पीततारा' का एक और रूप प्रसन्नतारा है। प्रकृति से सौम्य होने के कारण इसे 'अमृतमुखी' या 'अमृतलोचना' भी कहा गया है। इस तारा के चेहरे पर हल्की सी मुस्कान है। अपने सौन्दर्य को और आकर्षणयुक्त बनाने के लिये यह रंग विरंगे वस्त्र धारण करती है। साधनमाला (साधन सं० 114) में इस तारा का स्वरूप वर्णित है—

हेमवर्णां महाघोरां तारादेवीं महर्द्धिकाम् ।
त्रिनेत्रामष्टवदनां भुजषोडशभूषिताम् ।।

ऊर्ध्वपिङ्गलकेशां सार्द्रशतार्धमुण्डमालाकृतहाराम् ।
प्रत्यालीढपदोपेतां जगत्त्राणां महाबलाम् ।।
विचित्रवस्त्रनेपथ्यां हसन्तीं नवयौवनाम् ।।

(सा० मा०, सा० सं० 114, पृ० 241)

एक समय बुद्धगुह्य एवं बुद्धशान्ति दोनों पोतलगिरि को गये। पर्वतपाद (चरण) में 'आर्यतारा' नागसमुदाय को धर्मोपदेश कर रही थी, पर उन दोनों को गायों का झुण्ड चराती हुई एक वृद्धा दिखाई दी। पर्वत के मध्य भाग में भृकुटी असुर, यक्ष समूह को धर्मोपदेश कर रही थी। परन्तु उन्हें एक बालिका भेड़ों का झुण्ड चराती दिखाई पड़ी। कहा जाता है कि पर्वत की चोटी पर पहुँचने पर केवल आर्यावलोकितेश्वर की एक पाषाण मूर्ति मिली। लेकिन बुद्धशान्ति ने सोचा इस पुण्य भूमि में साधारण प्राणी कैसे होगा? मेरा हृदय ही शुद्ध नहीं है, ये अवश्य ही 'देवीतारा' आदि है। ऐसा सोच दृढ़ विश्वास के साथ उन्होंने तारा की प्रार्थना की। फलतः उन्हें साधारण ज्ञान के रूप में इच्छानुसार अपने रूप को बदल सकने की ऋद्धि और अभिज्ञा आदि असीम ज्ञान प्राप्त हुआ। परमज्ञान के रूप में पहले न सीखे हुए सभी धर्मों का ज्ञान हुआ तथा आकाश के

समान वस्तुस्थिति का ज्ञान प्राप्त हुआ। परन्तु बुद्धगुह्य ने अविश्वास करते हुए 'तारा' की प्रार्थना की तो उन्हें केवल भूमि पर चरण स्पर्श किये बिना चलने की सिद्धि प्राप्त हुई।[1]

किसी समय उपासक भदन्त अस्वभाव का जन्म वैश्यकुल में हुआ था। वे कौमार्य अवस्था से ही महायान के प्रति श्रद्धा रखते थे और उन्होंने आर्यमञ्जुश्री का दर्शन प्राप्त किया था। वे नित्य नियत समय पर दश धर्माचरणों का पालन करते थे और 1000 उपासकों तथा उतनी ही संख्या में उपासिकाओं को धर्म की देशना करते थे। जब वे एक बार कामरूप की ओर गये, तो उनके शिष्य अनजाने में अजगर के बिल पर चले गये, पर संयोगवश कुछ समय तक अजगर की नींद नहीं टूटी। किन्तु जब सर्प की नींद टूटी तो मनुष्य की गन्ध पाने पर सर्प ने आकर कुछ उपासकों को निगल डाला और बहुत से लोगों को काट लिया और जो भागने की कोशिश कर रहे थे, वे भी सर्प के मुँह के विषैले सांस (भाप) से चक्कर खाकर गिर पड़े। तब आचार्य के द्वारा भट्टारिका आर्यातारा का स्मरण करते हुए उनकी स्तुति करने पर उस सर्प (अजगर) को बहुत वेदना हुई और दोनों उपासकों को वमन कर बाहर निकाल दिया और सर्प भाग गया। सर्प के निगलने और काटने से जो लोग मूर्छित हो गये थे, उन पर तारा के द्वारा अभिमन्त्रित जल छिड़कने पर सब विष (घावों के) मुँह से बाहर निकल गये और वे लोग पुनर्जीवित हो उठे। एक बार स्वयं आचार्य को सर्प आघात पहुँचाने आया तो उन्होंने तारा के मन्त्र से अभिमन्त्रित पुष्प सर्प पर छिड़काये। फलतः सर्प आचार्य के सम्मुख सर्वमुक्ति नामक अनेक मोतियाँ उगल कर वापस चला गया। वन में आग लगने पर तारा का मन्त्रोच्चारण करने से अग्नि का शमन हो जाना आदि अनेक अलौकिक शक्तियाँ उनमें विद्यमान थीं।[2]

(iv) नीलतारा

देवीतारा का चतुर्थ वर्ण 'नील' है। यह बुराइयों का हरण करने वाली और सौभाग्य देने वाली देवी है। साधनमाला में इनके दो स्वरूप वर्णित हैं—1. एकजटातारा और 2. महाचीनतारा।

19. एकजटातारा

इस देवी का सौन्दर्य अनुपम है पर जब यह 'रौद्र' रूप धारण करती हैं, तब इन्हें 'एकजटा तारा' या 'विद्युज्ज्वाला कराली' कहा गया है। साधनमाला (साधन सं० 123,

---

1. द्र०-भारत में बौद्धधर्म का इतिहास, पृ०119
2. द्र०-भारत में बौद्ध धर्म का इतिहास, पृ० 106-107

124, 125, 126, 127, 128) में 'विद्युज्ज्वालाकराली' एवं 'एकजटातारा' का पृथक् विवरण मिलता है। इनमें उन्हें नील वर्ण का बताया गया है। वे अपने कटिस्थल के चारों ओर व्याघ्रचर्म धारण करती हैं। उनके एक मुख, तीन नेत्र हैं। ऊपर उठे अर्थात् उत्थित भूरे रंग के केश हैं। वे खर्वलम्बोदर एवं भयानक दिखने वाली प्रत्यालीढ मुद्रा में स्थित हैं। वे कटे हुए सिरों की माला पहनी हैं। वे एक शव पर आरूढ हैं तथा उनके मुकुट पर अक्षोभ्य स्थित है। भोट एवं चीन में भी इस देवी को जनसामान्य आदर की दृष्टि से देखते हैं।[1]

कृष्णवर्णा मताः सर्वा व्याघ्रचर्मावृताः कटौ ।
एकवक्त्राः त्रिनेत्राश्च पिङ्गोर्द्धकेशमूर्द्धजाः ।।

खर्वा लम्बोदरा रौद्राः प्रत्यालीढपदस्थिताः ।
सरोषकरालवक्त्रा मुण्डमालाप्रलम्बिताः ।।

कुणपस्था महाभीमा मौलावक्षोभ्यभूषिताः ।
नवयौवनसम्पन्ना घोराट्टहासभास्वराः ।।

(आर्यनागार्जुनपादैः भोटेषु उद्धतम्। सा॰ मा॰, सा॰ सं॰ 127, पृ॰ 166)

20. महाचीनतारा

बौद्धों में इस देवी को 'रौद्र' रूप प्रदान किया गया है तथा इसे उग्रतारा की संज्ञा दी है। महाचीन तारा को बौद्ध तन्त्र में उग्रतारा कहा गया है। उनका वाहन शव है। आसन प्रत्यालीढ है। रूप उग्र है तथा उनके चार हाथ हैं। वे नरमुण्डमाला पहनी हुई रहती हैं। उनका रंग नीलकमल के सदृश है। उनको तीन नेत्र एवं एक मुख है तथा वे भयंकर अट्टहास करती हुई दिखाई देती हैं। वे मनुष्य के शव पर खड़ी हैं तथा सर्प के आभूषण पहनती हैं। उनकी आँखें लाल हैं। उनके दो दाहिने हाथों में खड्ग, कटार तथा बायें हाथों में करताल तथा नरकपाल रहती हैं।

---

1. वे नीलवर्णी, उग्र उपस्थिति वाली, भयानक रूपवाली, अग्नि ज्वाला समान ऊपर उठे केशों वाली, नुकीले दाँतों वाली, रक्तपूर्ण तीन नेत्रों वाली तथा बाहर निकली जिह्वा वाली है। सम्भवतः तिब्बत में एकजटातारा की उपासना सातवीं शती ई॰ के मध्य से सिद्ध नागार्जुन द्वारा आरम्भ की गई।

एकजटातारा के विषय में कथ्य है कि आचार्य नागार्जुन ने इसे तिब्बत से लाया (ई॰ हि॰ क्वा॰, भाग 6, पृ॰ 584)। इससे प्रतीत होता है कि एकजटातारा की साधना आचार्य नागार्जुन को भोट-देश में मिला। (शाक्यश्रीभद्र की जीवनी, पृ॰ 16)

"कृष्णामार्यताराभट्टारिकां चतुर्भुजैकमुखीं त्रिनेत्रां खर्वलम्बोदरां द्रंष्ट्राकरालवदनां प्रत्यालीढपदेन शवारूढां नागाष्टकभूषणां व्याघ्रचर्मवसनाम् अवलम्बमानमुण्डमालां पंचमुद्राविभूषिताम्"। (सा० मा०, सा० सं० 100, 101, पृ० 209)

सम्मोहन तन्त्र के अनुसार मेरु पर्वत के पश्चिम भाग में चोल नाम का झील है। नीलोग्र तारा, नीलसरस्वती या उग्रतारा का जन्म वहीं हुआ था, जो चीन देश में है (ई० हि० क्वा०, भाग 7, पृ० 3)। इससे प्रतीत होता है कि भारत और तिब्बत के समन्वयात्मक सम्बन्ध उग्रतारा की पूजा का प्रचार है। सम्भवत: वनगाँव महिषी की भगवती उग्रतारा से ही पूजा का सिद्धान्त तत्कालीन विक्रमशिला के आचार्यों ने ग्रहण की।

तान्त्रिकों के कुलाचार एवं वामाचार आदि पद्धतियों के अतिरिक्त चीनाचार पद्धति का भी उल्लेख है। चीनाचार पद्धति का सम्बन्ध चीन देश से बतलाया जाता है। तारातन्त्र के अनुसार चीनतारा की पूजा पद्धति महाचीन देश से आई है। कथ्य है कि वशिष्ठ ने महाचीन देश जाकर चीनाचार की दीक्षा ली तथा वहाँ से भारत वापस आकर उन्होंने इस पद्धति को चलाया। इस देवी की अनेक प्रतिमाएं नेपाल में भी देखने को मिलती हैं। किंवदन्ती है कि सन् 1350 ई० में जब मुगल शासकों ने उत्तरी बंगाल में आक्रमण किया तब बंगाल के कुछ पुरोहित 'महाचीन तारा' की प्रतिमा को नेपाल ले गये और वहाँ के साँखू स्थान पर वज्रयोगिनी मन्दिर में इसकी स्थापना की। इसके बाद से नेपाल में महाचीन तारा की प्रतिमाएं विविध रूपों में बनने लगीं।

एक समय आचार्य दीपङ्करश्रीज्ञान ने भोट (तिब्बत) देश जाने के लिये अपनी इष्ट देवी (आर्यतारा) एवं एक डाकिनी से प्रश्न पूछा तो इष्ट देवी तारा एवं डाकिनी दोनों ने समान रूप से कहा कि—"तुम भोट देश जाओ। साधारणत: बुद्धशासन के लिये लाभ तो होगा ही; विशेषकर—एक उपासक के माध्यम से बौद्ध शासन के लिये अत्यन्त लाभ होगा। हाँ, लेकिन तुम्हारी आयु बीस वर्ष घट जायेगी"

लेकिन आचार्य अतीश जी का विचार था कि "यदि लोगों का कल्याण हो और बुद्धशासन का लाभ हो तो (बीस वर्ष) आयु कम होना तो बहुत छोटी बात है"। तब उन्होंने यह निश्चय किया कि अब भोट देश के लिये चल ही पड़ना चाहिये और उन्होंने अपने महाविहार के स्थविर आचार्य शीलाकर से आज्ञा पाकर अपनी शिष्य मण्डली के साथ विक्रमशिला से भोट देश के लिये प्रस्थान किया।

भोट देश के 'ङरीस्' प्रदेश में तीन वर्ष तक निवास करने के समय 'ग्यल् शिङ्' नामक स्थान पर आचार्य दीपङ्करश्रीज्ञान से 'डोम् तोन्पा' की प्रथम भेंट हुई। कहा जाता है कि जब 'डोम् तोन् पा' 'ङरीस्' पहुँचने वाले थे, तब इसका आभास आचार्य अतीश को पहले ही हो गया था, क्योंकि इष्ट देवी आर्यतारा ने उन्हें पहले ही कहा था कि—"तुम्हारा वह उपासक चौथे दिन यहाँ पहुँचेगा। अतः उसके स्वागत की तैयारी करो"। तब आचार्य ने भी भट्टारिका आर्यतारा के कहे अनुसार तैयारी कर डाली। इन्होंने अभिषेक के लिये कलश तैयार किया। ठीक चौथे दिन आचार्य अपनी शिष्य मण्डली सहित एक यजमान के यहाँ भोजन के लिये आमन्त्रित हुए। उनके यहाँ जाते हुए मार्ग में वे (आचार्य) सोचने लगे कि—"क्या यह सम्भव है, भट्टारिका आर्यतारा हमें धोखा दें? इसी विचार में डूबे चलते हुए एक गली में 'डोम् तोन्' से इनकी भेट हुई थी"।[1]

(v) रक्ततारा

देवीतारा के पाँच वर्णों में अन्तिम वर्ण 'रक्त' है। साधनमाला में इसे 'रक्ततारा' भी कहा जाता है। ये दो प्रेमियों को मिलाने वाली देवी है। असफल प्रेमी इनकी पूजा विशेष श्रद्धा से करते हैं। इनकी पूजा से किसी पर वशीकरण आदि किया जा सकता है। कुरुकुल्लातारा रक्ततारा का एकमात्र स्वरूप है। यह देवी द्विभुज, चतुर्भुज, षड्भुज और अष्टभुज स्वरूपों में वर्णित हैं।

21. कुरुकुल्लातारा

बौद्धों में इस वर्ण की तारा का केवल एक रूप मिलता है। इस तारा को 'कुरुकुल्लातारा' कहा गया है। यह 'कुरुकुल्ला तारा' वशीकरण के तान्त्रिक कृत्य में सफलता प्रदान करती है। ऐसा कहा जाता है कि यदि कोई साधक उनके इस मन्त्र का दस हजार बार जप करें तो किसी भी साधारण मनुष्य को वश में कर सकता है। यदि कोई तीस हजार बार उनके इस मन्त्र का जाप करें तो राजमन्त्री को वश में कर सकता है और यदि एक लाख बार इस मन्त्र का जप करें तो राजा को भी वश में किया जा सकता है। साधनमाला में भी कहा है—

---

1. द्र०-अतीशविरचित एकादशग्रन्थाः, पृ० 81, 94

"कुरुकुल्लां भगवतीं पश्येत् रक्तां रक्ताष्टदलपद्मसूर्यासने वज्रपर्यङ्कनिषण्णां षड्भुजां सव्यावसव्यप्रथमभुजाभ्यां त्रैलोक्यविजयमुद्राधरां द्वितीयदक्षिणवामकराभ्यां अङ्कुशरक्तोत्पल-धरां परिशिष्टभुजद्वयेनाकर्णपूरितधनुः शरां रक्ताम्बरधरां पञ्चतथागतमकुटिं साध्यस्य हृदि रक्तोत्पलवरटके चन्द्रमण्डले रक्तवर्णं तांकारं विभाव्य"।

"तत्रायं मन्त्रः - ॐ कुरुकुल्ले ह्रीः अमुकं मे वशमानय हो स्वाहा"।

(सा० मा०, सा० सं० 173, पृ० 351)

लक्षैकेन वशी राजा प्रजालोकोऽयुतेन तु ।
पशुपक्ष्यादयः कोट्या सप्तलक्षेण चासुराः ।।

(सा० मा०, सा० सं० 185-186, पृ० 385, 388)

इनका मन्त्र सर्पदंश या रोगी के शरीर में से विष को निकालने की शक्ति रखता है। साथ ही यह देवी तारा विरही प्रेमियों को उनके प्रियजनों से मिलाकर उन्हें प्रसन्न करती है। अर्थात् यदि कोई विरही व्यक्ति इसके मन्त्र को दस सहस्र बार जप करे तो उसकी कामना पूर्ण होती है। इनकी उपासना का यह मन्त्र सुविख्यात है—

ॐ कुरुकुल्ले हूँ ह्रीं स्वाहा।

बौद्धों का विश्वास है कि प्रत्येक नवयुवक को इस देवी की आराधना करनी चाहिये। 8वीं से 12वीं शताब्दी तक यह देवी बहुत लोकप्रिय हो गई थीं। वस्तुतः देवीतारा बौद्ध तान्त्रिकों की शक्ति स्वरूपिणी देवी हैं, जिन्हें इन तान्त्रिकों ने निर्वाण प्राप्ति में अपनी इष्ट देवी के रूप में माना है।

एक समय आचार्य शाक्य श्रीभद्र जब जयनगर राजा के अतिथि थे, उस समय एक रात स्वप्न में उन्होंने देखा कि भगवती देवी तारा ने अपने बाएं हाथ, जिसमें त अक्षर के सदृश सोना, चाँदी तथा वैडूर्य थे, को पसार कर कहा—"राजभोगों की अपेक्षा हमारी ये तीनों चीजें अच्छी हैं। तुम इन्हें ग्रहण करो"।

एक समय मगध में तुर्कों की सेना यहाँ के सभी प्रदेशों पर आक्रमण कर उसे नष्ट-भ्रष्ट करने लगी। उस समय पुनः देवी तारा ने स्वप्न में दर्शन देकर उन्हें कहा कि "हे कुलपुत्र! तुम पूर्व दिशा (मिथिला, बंगाल, आसाम तथा उड़ीसा के भू-भाग) की ओर जाओ"। यद्यपि पूर्व दिशा की यात्रा अत्यन्त कठिन थी, मार्ग दुर्गम थे तथा उन्हें दिशा के

ज्ञान का भी अभाव था किन्तु अपनी इष्टदेवी तारा के आदेश पालन करने के लिए उन्होंने पूर्व दिशा की यात्रा की।[1]

एक समय आचार्य शाक्य श्रीभद्र भिक्षाटन कर रहे थे। तब ठण्ढी हवा बह रही थी। उनके कष्ट को देखकर एक भद्र सज्जन ने कहा कि "ठण्ड के कारण आपको अत्यन्त कष्ट हो रहा है। अत: मैं भिक्षा देता हूँ"। आचार्य ने भी अपनी स्वीकृति दे दी। इसके उपरान्त देवी तारा ने दर्शन देकर कहा—"क्या अब तुम बुद्धशासन का पालन नहीं करोगे?"

आचार्य शाक्यश्रीभद्र अपने जगत्तला से तिब्बत यात्रा के प्रसङ्ग में भगवती तारा से पूछा तो उन्होंने कहा—"तुम्हें यहाँ अधिक देर तक नहीं ठहर कर अब तिब्बत चले जाना चाहिए; अब धर्म की इच्छा रखने वाले यहाँ बहुत कम लोग हैं। इसलिए अब तुम्हें यहाँ रहने की क्या आवश्यकता है। इसलिए उत्तर (तिब्बत) की ओर चले जाओ।" तदुपरान्त वे तिब्बत जाने की तैयारी करने लगे।[2]

आचार्य शाक्य श्रीभद्र तिब्बत के छगरि के एक नगर में निवास काल के समय में उन्होंने देवी तारा से पुन: प्रार्थना की, तब देवी तारा ने कहा—"पूर्वजन्म में तुमने एक पण्डित के साथ शास्त्रार्थ किया था। तुम्हें विजयश्री मिलने ही वाली थी कि उसी समय तुमने उस पण्डित को कठोर वचन कहा। वह पण्डित एक असाधारण पुरुष थे। अत एव इस जन्म में तुम क्रोधी एवं कठोर वचन बोलने वाले हो"। तब आचार्य ने देवी तारा की बातों को सुनकर कहा कि "मैं अविलम्ब उस कर्म की परिशुद्धि के लिए उसका प्रतिपक्ष का सेवन करता हूँ।[3]

आचार्य शाक्य श्रीभद्र के तिब्बत प्रवास काल में धर्मोपदेश की अवधि में स्वप्न में किसी ने आचार्य से कहा कि "आज आपको एक सहस्र भद्रकल्प बुद्धों में से भ्रगिरथी नामक एक बुद्ध का दर्शन करना है। इसलिए आज आप अपने पुण्य कार्य का सम्पादन यथाशीघ्र कर लें"। अत: आचार्य ने अपने पुण्य कार्य को शीघ्र समाप्त कर 'रिनछेन सङ्पा' के दर्शन करने के लिए गये। उस रात्रि आचार्य ने अपनी धर्मचर्या के समय भगवती

1. द्र०-शाक्यश्रीभद्र की जीवनी, पृ० 20
2. द्र०-शाक्य श्रीभद्र की जीवनी, पृ० 27
3. द्र०-शाक्य श्रीभद्र की जीवनी, पृ० 36

तारा से पूछा कि "क्या वस्तुत: कल्याणमित्र भगिरथी है?" भगवती तारा ने कहा कि वह सौभाग्यशील(वान) तो है किन्तु उनके साथ अनेक दुश्चरित्र व्यक्ति भी हैं, जिससे उनके कार्यों में ऊँच-नीच का भेद नहीं रहता है। अत एव उनके रथ की धुरी टूट जायेगी। लेकिन फिर भी तुमको वहाँ जाना ही पड़ेगा तथा तीन दिन से कम रहने पर कर्मावरण नहीं हो सकेगा। यदि दो बार से अधिक तुम वहाँ नहीं जाओगे तो तुम्हारी मृत्यु के बाद तुम्हारे अनुयायियों में एक भयंकर झगड़ा होगा तथा उन बुरे कर्मों का फल तुम पर भी लगेगा।" भगवती तारा के आदेशानुसार आचार्य ने अपने अनुयायियों के साथ वहाँ दो बार धर्मोपदेश किया।

तदुपरान्त उन्होंने तिब्बत के दक्षिण भाग थर लुङ् तथा सोल नग थङ् आदि स्थानों में जाकर जनहित के अनेक कार्य किये। अपने यहाँ के निवास काल में एक समय वे भिक्षा लेकर आ रहे थे। उनके दर्शन के निमित्त आये हुए लोगों की भीड़ लग गयी। आचार्य को आगे बढ़ना कठिन हो गया और इस बीच भोजन से भरा हुआ भिक्षापात्र उनके हाथ से गिर गया जिसमें से भोजन का कुछ अंश (कण) एक संघाराम के ऊपर गिर गया। इसके बाद उत्पन्नक्रम एवं सम्पन्नक्रम के समय ध्यान करने पर उनके मन में अनेक प्रकार की आशंका उठने लगी और स्वयं उनको अन्धापन सा मालूम होने लगा। तब उन्होंने भगवती तारा से प्रार्थना की। भगवती तारा ने कहा कि "दीपङ्कर श्रीज्ञान 'भद्रकल्प' के एक बुद्ध हैं। उन्हों़ने जो पुण्य के कार्य किये हैं उनकी श्रद्धा में लोग उनकी प्रदक्षिणा करते हैं। उसके ऊपर तुमने अपने पिण्डपात्र के उच्छिष्ट(अवशिष्ट) भोजन को फेंक दिया है। अत एव यदि कर्मावरण नहीं करोगे तो तुम्हारे अनुचर मलेरिया रोग से पीड़ित होंगे"। तदुपरान्त उन सभी सम्पत्तियों को जो उनको भेंट की गई थीं, आचार्य ने चारों भिक्षु संघों को देकर वज्रविनाशक, उष्णीषविजय एवं स्नानविधि के अनुसार पूजा प्रारम्भ की।[1]

उपसंहार

इस प्रकार भगवती तारा सर्वसिद्धि प्रदा देवी है। इनके मन्त्रों को सिद्ध करने वाला साधक(योगी) अष्टमहाभयों से मुक्त हो जाता है। क्योंकि देवी आर्यतारा को अष्टमहाभय

---

1. द्र०-शाक्यश्रीभद्र जीवनी, पृ० 44-45

हारिणी कहा गया है[1] । वह इन भयों से अपने भक्तों का त्राण करती है। जिससे मनुष्य सभी कठोर असह्य सांसारिक दुःखों से मुक्त हो जाता है। उसकी धारणाएं परिवर्तित हो जाती हैं। उसमें कठोरता से मृदुता आ जाती है और उसे अप्रतिहत शक्ति एवं अजेयता प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार वह भाग्यशाली के साथ-साथ अतुल ऐश्वर्य युक्त (धन-सम्पत्ति) एवं अलौकिक शक्तियों का मालिक बन जाता है।

भवतु सर्वमङ्गलम्।



1. अष्टमहाभय (जल, अग्नि, गज, चोर, सिंह, सर्प, राजा एवं राक्षस) (आर्यतारास्त्रग्धरास्तोत्र, श्लो० सं० 10-17)

यस्याः स्मरणमात्रेण नष्टमष्टभयानकम् ।
तां प्रणम्य प्रवक्ष्यामि साधनं च शिशो शृणु ।।
ध्यात्वा गगनमध्ये तु तारामष्टभयापहाम् ।
..कृत्वा साधनमेवेदं नृपदेवी समन्वितम् ।।
हत्वाऽष्टभयं च सर्वं करोतु जगदुत्तरम् ।।

(सा० मा०, सा० सं० 99, पृ० 207-208)

सञ्चक : निर्माणविधि एवं माहात्म्य

—लोसंग दोर्जे—

[संस्कृत के 'सञ्चक' शब्द का भोट भाषा में अपभ्रंश रूप 'छाछा' या 'साच्छ' शब्द प्रचलित है। सामान्य तौर पर सञ्चक का अर्थ यह माना जाता है—पीतल, ताँबे अथवा कांसे के द्वारा निर्मित ढाँचे में चित्र अथवा मूर्ति का आकार बनाकर उसमें मिट्टी इत्यादि डालकर जो छोटे-छोटे चैत्य अथवा मूर्ति के आकार बनाये जाते हैं, उस ढाँचे को 'सञ्चक' कहा जाता है। इसके निर्माण की शास्त्रकारों ने जो विधि बताई है और उससे होने वाले पुण्यसम्भार की जो महिमा बताई है, संक्षेप में उसी का दिग्दर्शन प्रस्तुत निबन्ध में किया गया है।]

आर्यावर्त भारतवर्ष में सञ्चक का निर्माण कार्य अत्यन्त प्राचीनकाल से चला आ रहा है। ऐसा कहा भी जाता है कि बौद्धों में मूर्ति की पूजा से पहले स्तूप (चैत्य) पूजा का प्रचलन हुआ था। सामान्यत: जो पूजा का आधार होता है, उसे चैत्य कहते हैं। चैत्य बुद्ध के चित्त-गुणों का प्रतीक है। यह भी माना जाता है कि जब बुद्ध भगवान् समाधि में लीन होते हैं, उस समय उनका जो आकार होता है, वह लगभग चैत्य जैसा होता है। उस आकार के सदृश किसी द्रव्य से निर्माण करके पूजा के प्रतीक के रूप में स्थापित कर पूजा आदि की जाती है। उस निर्मित आकार का सम्भवत: अनुयायियों द्वारा 'चैत्य' के रूप में व्यवहार किया गया है। अत: सम्प्रति जितने भी बौद्धों के चैत्य दिखलाई पड़ते हैं, दूर से देखने पर उनका आकार समाधि में लीन किसी बौद्ध भिक्षु के आकार जैसा दृष्टिगोचर होता है। लेकिन समस्त चैत्य एक समान हों—ऐसा माना नहीं जा सकता।

सम्भवत: बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् चैत्यों के निर्माण के साथ ही सञ्चक का निर्माण भी प्रारम्भ हुआ होगा। सामान्य लोग बुद्ध के प्रति अधिक श्रद्धा रखते थे, परन्तु धन के अभाव के कारण एवं अधिक संख्या में स्तूप बनाने के लिए उन्होंने सञ्चक का निर्माण प्रारम्भ किया होगा। जब एक बड़े चैत्य का निर्माण किया जाता है तब उसके भीतर छोटे-छोटे स्तूप द्रव्य के रूप में निविष्ट किये जाते हैं। आज कल भी ऐसे बहुत से छोटे-छोटे प्राचीन चैत्य भारत एवं विदेशों के पुरातत्त्व संग्रहालयों में दिखाई पड़ते हैं। थाईलैण्ड एवं बर्मा (म्यांमार) इत्यादि देशों में अनेक छोटे-छोटे चैत्य विभिन्न आकार एवं द्रव्यों के द्वारा निर्मित भूमि के नीचे से प्राप्त हुए हैं, जो लगभग सैकड़ों वर्ष पुराने होने का संकेत देते हैं।

नालन्दा विहार के खण्डहरों से भी साँचे के द्वारा निर्मित अनेक छोटे-छोटे चैत्य प्राप्त हुए हैं, जो लगभग पाँचवीं, छठी शताब्दी से पूर्व के प्रतीत होते हैं।

भोट देश में सच्छक का प्रचलन

भोट देश में बौद्ध चैत्य (स्तूप) निर्माण का कार्य सर्वप्रथम राजा ठिसोङ् के काल (आठवीं शताब्दी) में प्रारम्भ हुआ होगा—ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि उस दौरान आर्यावर्त भारतवर्ष से आचार्य शान्तरक्षित एवं उनके साथ अनेक भारतीय विद्वान् भी भोट देश पहुँचे थे। उन्होंने वहाँ पहली बार भिक्षु-परम्परा का प्रवर्तन किया। इसी काल में भोट देश के महाविहार 'समये' का निर्माण सम्पन्न हुआ। उसके चारों दिशाओं में श्वेत, रक्त, नील एवं कृष्ण रंग के चार चैत्य भी निर्मित हुए। सम्भवत: ये ही भोट देश में निर्मित सर्वप्रथम बौद्ध चैत्य हैं। भोट देश में मात्र चैत्य का ही पहुँचना तो इससे कई शताब्दी पूर्व हो चुका था, साँचा भी उसी के साथ पहुँच चुका था। परन्तु उस समय वहाँ की जनता को उनके वास्तविक परिचय का यथावत् ज्ञान नहीं था, इस कारण वह अज्ञात ही रह गया। ऐसा कहा जाता है कि जब भोट देश के 27वें राजा ल्हा थोथोरी ञेन्छेन् एक दिन अपने राजमहल की छत पर इधर-उधर टहल रहे थे, उसी समय अचानक आकाश से अकस्मात् कोई वस्तु राजा के सामने गिरी, जिसमें कारण्डव्यूहसूत्र, षडक्षरगर्भसूत्र, साक्षीपुराणमुद्रकसूत्र, एक हाथ के परिमाप का स्वर्णचैत्य, चिन्तामणि एवं एक साँचा था। उसी समय आकाशवाणी भी हुई, जिसमें कहा गया था कि इन सभी का अर्थ एवं परिचय आपकी आने वाली पाँचवीं पीढ़ी के शासन के बाद स्पष्ट होगा। इन वस्तुओं के अन्त में साँचे का जो उल्लेख है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भोट देश में साँचे का आगमन लगभग चौथी शताब्दी में हो चुका था, परन्तु उस समय तिब्बत में बोन् सम्प्रदाय का शासन था और बौद्धधर्म की स्थापना नहीं हुई थी तथा राजा को इन वस्तुओं के लक्षणों की जानकारी नहीं थी, परन्तु आकाश से प्राप्त होने के कारण सम्भवत: इन्हें पवित्र वस्तु मानकर उन्हें अपने राजकोष में महत्त्वपूर्ण गुह्य वस्तु का नाम देकर सुरक्षित रख दिया और उनकी पूजा की जाती थी। इसी कारण कहा जाता है कि साठ वर्ष के राजा पुन: युवा होकर और साठ वर्ष अधिक जीवित रहे। इस तरह उनका शासनकाल 120 वर्ष तक रहा। आकाश से वस्तुओं के आगमन के सन्दर्भ में अन्य तिब्बती विद्वान् एकमत नहीं हैं। उनका मानना है कि उस दौरान सम्भवत: कोई नेपाल का लोचावा और एक भारतीय

पण्डित तिब्बत आए और उन्होंने ही शायद ये सब वस्तुएं राजा को भेंट के रूप में दी होंगी।

बाद में राजा ल्हा थोथोरि ञेनछेन के पश्चात् उनकी पीढ़ी के पाँच राजाओं ने इन वस्तुओं का स्पर्श भी नहीं किया, किन्तु निरन्तर उनकी पूजा करते रहे। वस्तुतः इससे भविष्य में पाँच राजाओं के बाद भोट देश में बौद्धशासन का आगमन परिलक्षित होता है और पाँच राजाओं के बाद वास्तव में सम्राट् स्रोङ् चन गम्पो के शासनकाल में भारत से तिब्बत में बुद्धवचन का आगमन हुआ और उनका भोट भाषा में अनुवाद भी प्रारम्भ हुआ। उसी समय पूर्वागत गुह्य वस्तुएं खोली गईं। उनमें से कारण्डव्यूहसूत्र[1] और साक्षीपुराणमुद्रकसूत्र[2] इन दोनों का तिब्बत के प्रथम अनुवादक थोनमि सम्भोट ने संस्कृत से भोट भाषा में अनुवाद किया।

तिब्बत में सञ्चक निर्माणविधि

तिब्बत में परवर्ती बौद्धशासन के विकास काल में आर्यावर्त भारतवर्ष से महापण्डित स्मृतिज्ञानकीर्ति नामक एक प्रख्यात विद्वान् भोट देश पहुँचे। उन्होंने अभिज्ञा के बल से यह देखा कि उनकी स्वर्गीय माता का पुनर्जन्म तिब्बत के किसी बड़े वंश के भट्टी (चूल्हे) के भीतर एक जीव के रूप में हुआ है। उस (जीव) को तुषित लोक में उत्पन्न कराने हेतु उन्होंने तिब्बत की ओर प्रस्थान किया। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य सम्भवतः भारत से तिब्बत की सोद्देश्य यात्रा पर निकलते समय अपने साथ बौद्ध ग्रन्थों के अतिरिक्त साँचा और सञ्चक निर्माण की विधि आदि को भी साथ ले गए थे। वे क़िसी नेपाली लोचावा के साथ तिब्बत की सीमा के पास पहुँचे। परन्तु दुर्भाग्यवश अनुवादक (नेपाली) लोचावा की अचानक मृत्यु हो गई। तब आचार्य बिना अनुवादक के ही तिब्बत पहुँचे। लेकिन अज्ञानी तिब्बती लोग आचार्य को पहचान न सके और आचार्य स्वयं भोट भाषा न जानने के कारण अपना परिचय न दे सके। आचार्य को नियमित रूप से केश कर्तन करने वाला प्राप्त न होने के कारण उनके बाल लम्बे हो गये और चीवर इत्यादि वस्त्रों के फट जाने पर नए वस्त्रों के न मिलने के कारण वे सफेद लुंगी धारण करके इधर-उधर घूमते रहे। अन्त में चङ् प्रान्त के तानकछङ् नामक एक बहुत बड़े प्रसिद्ध वंश में पशुओं की देख-रेख करने वाले सेवक के रूप में अनेक वर्षों तक कार्य करते रहे। जब आचार्य स्मृतिज्ञानकीर्ति ने अपने सेवाकार्य के पारिश्रमिक के रूप में धन के बदले उनके

1. तो० 116, सूत्रवर्ग 'ज' ।
2. तो० 267, सूत्रवर्ग 'य' ।

रसोई घर की भट्टी के स्थान को मांगा तब गृहपति ने उन पर कृपा कर वह जमीन उन्हें दे दी। उस भट्टी में आचार्य की मृत माता के पुनर्जन्म के रूप में उत्पन्न जीव का शव पड़ा था। उसे प्राप्त करके एवं उसे मिट्टी के साथ मिलाकर उन्होंने सञ्चक का विधिपूर्वक निर्माण किया तथा उस (पुण्य) के द्वारा अपनी माता को तुषित लोक में जन्मग्रहण कराया। तब से भोट देश में सञ्चक के निर्माण का कार्य सविधि प्रारम्भ हुआ।

कालान्तर में आचार्य अपने तिब्बती शिष्य लोचावा चेल-सेचा सोनम ग्यलछेन से मिला, वे आचार्य को अपने साथ पश्चिमी तिब्बत के खम् प्रान्त में ले गये। वहाँ पर आचार्य ने अनेक सूत्र एवं शास्त्रों का प्रवचन किया। विशेष रूप से आचार्य वसुबन्धु के अभिधर्मकोश का प्रवचन देकर तिब्बत में अभिधर्म की अध्ययन-परम्परा स्थापित की। इसके अतिरिक्त अनेक तन्त्रग्रन्थों का प्रवचन दिया एवं लोचावा के साथ उनका अनुवाद किया। कालान्तर में आचार्य ने भोट भाषा का अच्छी तरह से ज्ञान कर लिया और अनेक ग्रन्थों का स्वयं अनुवाद किया, जो आजकल भी कग्युर-तंग्युर सूची में प्राप्त होते हैं।

चातुर्महाभौतिक सञ्चक का निर्माण एवं अनुशंसा

सञ्चक का निर्माण न केवल मिट्टी पर ही आधारित है, अपितु अन्य चार महाभूतों के आधार पर भी निर्मित होता है। विशेष रूप से जब उपस्थान (पूजा साधना) किया जाता है, उस समय मिट्टी के अतिरिक्त अग्नि, जल एवं वायु के आधार पर भी सञ्चक का निर्माण किया जाता है।

आचार्य स्मृतिज्ञानकीर्ति एवं आचार्य दीपंकरश्रीज्ञान ने भी सञ्चक का प्रयोग विशेष रूप से आवरण विशुद्धि एवं पुण्यसंचय के लिए किया है। आचार्य स्मृतिज्ञानकीर्ति द्वारा बनाये सञ्चक के आकार को पहचानने के लिए ऐसा कहा जाता है कि जब आचार्य तिब्बत में सेवक के रूप में कार्य कर रहे थे, उस समय वे कभी-कभी सञ्चक का निर्माण किया करते थे। उनके द्वारा निर्मित छोटे-छोटे सञ्चकों से कभी-कभी उनका छोटा-सा (सेवक के लिए बने) आवास एवं भट्टी (चूल्हे) भर जाते थे। तब वे उनमें से कुछ सञ्चकों को बाहर ले जाकर पेड़-पौधों की शाखाओं पर लटका देते थे। आचार्य के द्वारा निर्मित सञ्चकों के तल में छेद होता था। कालान्तर में जब आचार्य स्मृतिज्ञानकीर्ति के सञ्चकों की बहुत प्रसिद्धि हो गई, तो उनकी पहचान के लिए साँचे द्वारा निर्मित चैत्य (स्तूप) के तल में एक छेद बनाया जाता है, जिसका प्रचलन आज तक भोट संस्कृति में जीवित है।

तिब्बतियों में भी अधिकांश लोगों में अपने माता-पिता एवं भाई-बन्धुओं के निधन हो जाने पर उनकी अस्थि अथवा अन्य अवशेषों को मिट्टी के साथ मिश्रण करके तथागत अक्षोभ्य के प्रतिबिम्ब वाले साँचे से मूर्ति-निर्माण का प्रचलन है। जिससे वे स्वर्गस्थ जीव के कल्पों से संचित पापों एवं आवरणों का विशोधन, दुर्गति में पतन से रक्षा और अन्य अनेक प्रकार की अनुशंसा मानते हैं।

कई भोट विद्वान् किसी एक स्तूप का निर्माण करके उसके भीतर तथागतों के काय, वाक् एवं चित्त के अनेक प्रतिनिधि के रूप में मूर्ति, पुस्तक एवं छोटे-छोटे मृत्तिका निर्मित चैत्य रखते हैं। इसके पीछे उनका दृढ़ विश्वास है कि एक चैत्य के निर्माण से अनेक पुण्यों का संचय एवं अधिक अनुशंसा प्राप्त की जा सकती है।

अनेक विशिष्ट विद्वानों का मानना है कि सञ्चक का चैत्य के रूप में निर्माण द्वारा कल्पों से संचित पाप एवं आवरणों का क्षय ही नहीं, अपितु अपरिमित पुण्यसंभार का भी संचय होता है और अधिक अनुशंसा भी प्राप्त होती है। अतएव तिब्बत के वरिष्ठ विद्वान् 'जे गुङ्थङ्[1]' कहते हैं कि—"आचार्य दीपंकरश्रीज्ञान, जे चोंखापा और जमयङ् छोस्जे इत्यादि अनेक पूर्व महाविद्वानों ने सञ्चक के निर्माण के नियम का नियत रूप से पालन किया है। यही पापक्षय और पुण्यसंचय के लिए सर्वश्रेष्ठ उपाय है। सञ्चक के निर्माण एवं अववाद की अनुशंसा करते हुए अनेक सत्त्वों का हित किया जा सकता है।"

सञ्चक निर्माण की साधना-विधि

अनन्तकाल से संचित दोष, आपत्तियों, पाप आवरणों तथा इस जन्म और अगले जन्म में भी संचित होने वाले दोषों के विशोधन के लिए तथा पुण्य संचय का सरल व संक्षिप्त एकमात्र उपाय आकर्षक विधि सञ्चक निर्माण की साधना-विधि है। यह विधि समस्त विधियों में उत्तम और सरल विधि मानी जाती है। इस विधि से अपार पुण्यसम्भार भी आसानी से संचित हो सकता है, अतः इस सञ्चक निर्माणविधि को अभिव्यक्त करने के लिए तीन प्रमुख विषय कहे जा रहे हैं—(1) भूमि परीक्षण, (2) प्रमुखतया सञ्चक निर्माण साधना विधि, (3) अनुशंसा तथा (4) परिणामना एवं प्रणिधान।

भूमि परीक्षण—सञ्चक निर्माण करने वाले पुद्गल को सर्वप्रथम उपयुक्त भूमि का परीक्षण करना चाहिए। जैसे आचार्य दीपंकरश्रीज्ञान ने अपने 'सञ्चक न्रिर्माण की नौ विधि'

1. सञ्चक निर्माण विधि-पोथी 'ज'।

में कहा है कि "जीव रहित भूमि एवं जल (से सञ्चक का निर्माण करना चाहिए)"। इसी तरह विनयसूत्रों में भी कहा गया है—'सूक्ष्म जीवाणु तक के निवास से रहित होना चाहिये'। अर्थात् इन वचनों के अनुसार सञ्चक के निर्माण के लिए प्राप्त की जानेवाली भूमि में सूक्ष्म जन्तु कीड़े-मकोड़े हैं या नहीं, इसकी पूर्णरूप से परीक्षा की जानी चाहिए। यदि वह स्थान उपयुक्त दिखाई दें तो भू-स्वामी (देव, नाग, यक्ष आदि) से भूमि के लिए निवेदन करना चाहिए। अन्यथा भू-स्वामी के क्रुद्ध होने से अमंगल और भूमि की चोरी (अदत्तादान) के दोष की सम्भावना होती है। उससे अल्प अनुशंसा प्राप्त होगी और अन्य अनेक दोष भी संभावित हैं। अतः उसके लिए श्वेत बलि इत्यादि अर्पित करनी चाहिए। साथ ही, उस क्षेत्र में स्थित देव, नाग एवं यक्ष इत्यादि की पूजा करते हुए सफलता हेतु परिणामना करनी चाहिए।

साधना विधि—इस प्रकार की श्वेत बलि पूर्व में अर्पित करते समय 'ॐ वज्र खन खन हूँ' मन्त्र के जाप से वह भूमि सप्त रत्नों के आकर स्वरूप हो—इस प्रकार भूमि का अधिष्ठान करना चाहिए। तत्पश्चात् 'ॐ वज्र खन खन हूँ' मन्त्र का जाप करते हुए भूमि को खोदना चाहिए। इस सन्दर्भ में तिब्बत के महाविद्वान् 'दुल जिन' का मत है कि प्रतीत्यसमुत्पाद मन्त्र का जाप करते हुए भूमि का खनन करना चाहिए। तिब्बत के एक अन्य विद्वान् ग्यलवङ् (5वें दलाई लामा) का कहना है कि 'ॐ वज्र मुद्गराकोटन स्वाहा' इस कूटन मन्त्र का जप करते हुए भूमि का खनन करना चाहिए।

तत्पश्चात् मिट्टी (भूमि) को घर ले जाकर फैला दें। उस मिट्टी में सुगन्धित जल के साथ रत्नों को पीसकर मिलाना चाहिए। तदुपरान्त 'ॐ अमृत हूँ फट्' एवं 'ॐ सर्वसामग्रीसमये स्वाहा' मन्त्र का जाप करके भूमि (मिट्टी) में स्थित अशुचि के विशोधन का चिन्तन करें। मिट्टी को गूँदते समय 'ॐ वज्रमुद्गराकोटन हूँ फट् स्वाहा' मन्त्र का जाप करें। फिर मिट्टी का चूर्ण बनाएं। 'ॐ अमृत हूँ फट्' मन्त्र का जाप करते हुए जल का अनुष्ठान करें। तत्पश्चात् वाम हस्त के अंगूठे से कनिष्ठिका को दबाते हुए तीन शिखर वाले वज्र की मुद्रा को ऊपर की ओर दिखाएं। इसी प्रकार दक्षिण हस्त की भी मुद्रा बनाकर दिखाएं।

इस प्रकार अन्त में मुद्रा को उलट कर अमृतकुण्डली मुद्रा तक मिट्टी को पकड़े रहें तथा अपनी इच्छा से किसी इष्टदेव का ध्यान करें। तत्क्षण स्वयं को वज्रभैरव के काय में परिणत के रूप में चिन्तन करें, जो एक मुख व दो हाथों वाले हैं तथा कटारी एवं

कपाल धारण किए हुए हैं। हृदय रूप में चिन्तन करें और 'ॐ स्वभावशुद्धाः...' मन्त्र से मिट्टी आदि शून्यता के रूप में विशोधन करें। शून्यता में ही पद्मासन पर 'ब्रुं' मन्त्र के जाप से मिट्टी के रत्नराशि में परिवर्तित होने का चिन्तन करें। स्वयं अपने 'हूँ' वर्ण से प्रकाशरश्मि के फैलने से (वह) अकनिष्ठ स्थित भगवान् वैरोचन की चित्तसन्तति को जागरित करता है, जिस कारण वैरोचन के चित्त से अपरिमित प्रभा उत्पन्न होती है तथा उससे समस्त सत्त्वों के पाप-आवरणों के विशोधन का चिन्तन करें। विशोधन के पश्चात् पुनः उस प्रकार के प्रकाश का प्रत्यावर्तन होते समय मृत्पिण्ड में विलीन होने का चिन्तन करें और उस मृत्पिण्ड को ही बुद्ध, बोधिसत्त्वों के ज्ञान स्वरूप हो जाने का चिन्तन करें।

तत्पश्चात् अनुष्ठान मन्त्र 'ॐ नमो भगवते वैरोचनाय प्रभराजाय तथागताय अर्हते सम्यक्संबुद्धाय तद्यथा ॐ सूक्ष्मे सूक्ष्मे समे समये शान्ते दान्ते समारोपे अनलम्भे तरम्भे यशोवति महातेज निरकुले निरवाणे सर्वबुद्धाधिष्ठानाधिष्ठिते स्वाहा' का 21 बार जाप कर अनुष्ठान करें। संक्षिप्त मन्त्र-जाप द्वारा अनुष्ठान करना चाहें तो 'ॐ हूँ त्रं ह्री आः' इस मन्त्र का जाप करके अनुष्ठान करें। तत्पश्चात् मृत्पिण्ड को ग्रहण करें। तत्पश्चात् मृत्तिका के पृथग्-पृथग् विभाजन मन्त्र 'नमः समन्तबुद्धानां ॐ वज्रपुष्पे स्वाहा, ॐ वसुधे स्वाहा' से मिट्टी को ग्रहण कर उसका विभाजन करें।

इसके बाद बिम्बवलन मन्त्र 'ॐ वज्रोद्भवाय स्वाहा' का जाप करके पाँच ज्ञान-स्वभाव में व्याप्त होने का चिन्तन करें। तदनन्तर तैल म्रक्षण मन्त्र 'ॐ अरजे विरजे स्वाहा' का जाप करके मिट्टी में तैल लगाते हुए ऐसा चिन्तन करना चाहिए कि चित्तसन्तति के पाप, आपत्ति एवं आवरण मलों का प्रक्षालन होकर बोधिचित्त से आर्द्रित हो रहा हो।

साँचे के भीतर डालने (क्षेपण) के लिए इस मन्त्र का उच्चारण करके डालना चाहिए, यथा—'धर्मधातुगर्भे स्वाहा'। इसका जाप करते हुए साँचे के भीतर डालते समय ऐसी भावना करनी है कि मानो उपाय एवं प्रज्ञा अभिन्न (युगनद्ध) हो गये हों। मिट्टी आकोटन मन्त्र 'ॐ वज्रमुद्गराकोटन स्वाहा' का जाप करना चाहिए। इसके साथ प्रतीत्यसमुत्पादहृदय मन्त्र 'ये धर्मा हेतुप्रभवाः' इत्यादि मन्त्र का उच्चारण करते हुए ऐसी भावना करनी चाहिए कि मानो यह महाज्ञानस्वरूप हो गया है। अर्पित करने अथवा आकर्षण मन्त्र 'ॐ धर्मरते स्वाहा' का जाप करके साँचे में से (ढली हुई चैत्य या मूर्ति को) निकालते हुए ऐसी भावना करें कि समस्त हेतु-फल परिनिष्पन्न हो गये हों। स्थापन मन्त्र 'ॐ सुप्रतिष्ठितवज्रे स्वाहा' का जाप करते हुए ऐसा चिन्तन करें कि उपाय एवं प्रज्ञा *के युगनद्ध हो जाने से धर्मकाय प्राप्त हो गया है।*

प्रतिष्ठा विधि—उपर्युक्त विधान के अनन्तर समस्त पूजासामग्री को सजा दें। यदि पूजासामग्री पूरी तरह सम्पन्न न हुई हो तो मन में ऐसा चिन्तन करें कि समस्त पूजासामग्री सजा दी गई हैं। तदनन्तर 'ॐ अमृत स्वाहा' मन्त्र जाप से समस्त विघ्नों के दूर होने का चिन्तन करें। तत्पश्चात् आह्वान एवं स्नान कराने के लिए निम्नलिखित श्लोक का उच्चारण करें, यथा—

यथा हि जातमात्रेण स्नापिताः सर्वदेवताः ।
तथाऽहं स्नापयिष्यामि शुद्धदिव्येन वारिणा ।।

इस गाथा का पाठ करते हुए मन्त्र के रूप में 'ॐ सर्वतथागताभिषिक्तः समयश्रिये आः हूँ' का उच्चारण करके स्नान कराना चाहिए। 'ॐ स्वभावशुद्धाः सर्वधर्माः स्वभावशुद्धोऽहम्' इस मन्त्र से शून्यता द्वारा उसका विशोधन करें। शून्यता का चिन्तन करते हुए पद्म एवं चन्द्र आसन (पीठ) पर 'ॐ' अक्षर में श्वेतवर्ण, एक मुख, दो हाथ, बोधि वरमुद्रा से युक्त तथागत वैरोचन वज्रासन में स्थित हैं—ऐसी भावना करते हुए उनके मूर्धा में 'ॐ' कण्ठ में 'आः' हृदय में 'हूँ' अक्षर हों, उस 'हूँ' अक्षर से निर्गत प्रभासरश्मि से तथागत वैरोचन के देवगण का आह्वान करें। तदनन्तर 'जः हूँ वं होः' इस मन्त्र से अद्वय (स्वरूप) हो जाते हैं। पुनः वैरोचन के चित्त से प्रभासरश्मि निर्गत होकर अभिषेक देनेवाले देवताओं का आवाहन करें। फिर उन देवताओं के द्वारा (जल से) अभिषेक दिया जाता है। अभिषेक जल पूर्णतया भरकर बाहर गिरने पर वह मूर्धा में चक्र के रूप में अलंकृत होता है—ऐसी भावना करें। तत्पश्चात् 'ॐ सर्वतथागतवज्रपुष्पे, धूपे, आलोके, गन्धे, नैवेद्ये शब्दे प्रतीच्छये स्वाहा' तक पूजा करनी चाहिए।

अनन्तर स्तुति इस प्रकार करनी चाहिए—"समस्त नमस्कार-योग्य श्रेष्ठजनों को, समस्त क्षेत्रों के परमाणुओं की संख्या के अनुरूप काय के द्वारा सर्वथा परम श्रद्धापूर्वक प्रणाम करें।" तत्पश्चात् 'ॐ आः हूँ' मन्त्र का उच्चारण करें। समाधि से उत्पन्न समस्त देवों के प्रभास्वरूप होने तथा उससे देव एवं चैत्य के आकारस्वरूप होने की भावना करें। तदनन्तर प्रतिष्ठित करने के लिए ऐसा निवेदन करें कि दश दिशाओं में स्थित बुद्ध और बोधिसत्त्व मेरी ओर ध्यान दें। जब तक आकाशपर्यन्त समस्त सत्त्व अप्रतिष्ठित निर्वाण भूमि में न पहुँच जाएं तब तक जिन तथागतों को सुस्थित होने हेतु निवेदन करता हूँ। विशेष रूप से इस सञ्चक निर्माण-विधि के लिए आहूत देवगण इस सञ्चक के चार महाभूतों के नष्ट न होने तक उसमें प्रतिष्ठित रहकर हम लोगों को उत्तम एवं सामान्य सिद्धियाँ प्रदान

करने हेतु निवेदन करता हूँ। 'ॐ सुप्रतिष्ठितवज्रे स्वाहा' के मन्त्र का जाप करके तीन बार पुष्प अर्पित करें।

उसके बाद प्रतीत्यसमुत्पाद मन्त्र 'ये धर्मा हेतुप्रभवा:...' का यथाशक्ति जाप करें तदनन्तर सुप्रतिष्ठित मूलमन्त्र 'ॐ सर्वतथागतमणिशतदीप्ते ज्वल ज्वल धर्मधातुगर्भे स्वाहा' का उच्चारण करते हुए जप करें।

तत्पश्चात् विसर्जन मन्त्र का उच्चारण करें, यथा—'ॐ स्वभावशुद्धे आहर आहर आगच्छ आगच्छ धर्मधातुगर्भे स्वाहा' मन्त्र का जप करते हुए विसर्जन करना चाहिए। इसके पश्चात् 'लक्ष्मीधर: काञ्चन...' इत्यादि इस मङ्गल गाथा का पाठ एवं भावना करनी चाहिये।

क्षमायाचना विधि—क्षमायाचना के लिए 'ॐ आकाशधातुगर्भे स्वाहा' इस मन्त्र का जप करें।

तदुपरान्त इस गाथा का पाठ करना चाहिए, यथा—"मेरे द्वारा (पूर्व-पठित में) अधिक या अपूर्ण, विधि च्युत या मेरे द्वारा कुछ भी मुषितस्मृतिता हुई है, तो उसके लिए मुझे क्षमा करें।" इसके बाद सञ्चक निर्माणविधि सम्पूर्ण रूप से समाप्त होती है।

जल, वायु एवं आकाश आदि महाभूतों में सञ्चक निर्माणविधि

पूर्व में सञ्चक निर्माणविधि के सन्दर्भ में जो कुछ बताया गया है, वह सभी प्रमुख रूप से पृथ्वी (मिट्टी) से निर्मित चैत्य के सञ्चक की निर्माणविधि है। पूर्व में ऐसा जाना जा चुका है कि चार महाभूतों से भी सञ्चक का निर्माण हो सकता है। इनमें से भूमि के अतिरिक्त जल, वायु, अग्नि एवं आकाश में भी सञ्चक निर्माण किया जा सकता है, इस सन्दर्भ में तिब्बत के वरिष्ठ विद्वान् 'गुङ् थङ् तन पई डोलमे' ने अपने ग्रन्थ 'सुगत के हृदय के प्रतीक सञ्चक की निर्माणविधि तथा संक्षिप्त प्रतिष्ठान' में कहा है कि "अन्य महाभूत, जिनमें जल एवं वायु इत्यादि हैं, उनमें सञ्चक का निर्माण किया जा सकता है, लेकिन अग्नि महाभूत का प्रयोग नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसके लिए अलग से मन्त्र एवं आलम्बन आदि नहीं हैं। जल महाभूत में सञ्चक के निर्माण में मन्त्र, यथा—'त्र्यध्वे सर्वतथागतहृदयगर्भे ज्वलधर्मधातुगर्भे संहरणायु: संशोध्य पापं सर्वतथागतसमन्त-विमलोष्णीषविशुद्धे महाविरजे गम्भीरसि धर्मधातुविविसार अ अ मामकी स्वाहा' का जप करके वह समस्त जल चैत्यस्वरूप हो गया है—ऐसी भावना करें। वायु एवं आकाश में भी मन्त्र जप के लिए पूर्वोक्त 'त्र्यध्वे सर्वतथागतहृदयगर्भे' से लेकर 'महाविरजे गम्भीरसि

धर्मधातुविविसार अ अ ए खं यः स्वाहा' मन्त्र का जप करना चाहिए। तदुपरान्त इस तरह निर्माण करने के पश्चात् कुशलवृद्धि के लिए सर्वश्रेष्ठ परिणामनोपायमन्त्र, यथा—''तद्यथा ॐ सूक्ष्मे सूक्ष्मे शान्ते शान्ते निरकुले यशस्तेजो सर्वबुद्धे अधिष्ठिते अनुमोदे स्वाहा'' का एक बार जप करने से एक चैत्य का निर्माण करने पर भी अरबों चैत्य के निर्माण के कुशलमूल की अभिवृद्धि होगी। ऐसा 'सर्वप्रज्ञान्तपारमितासिद्धचैत्यनाम धारणी[1]' ग्रन्थ में कहा गया है, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

मृत एवं स्वबन्धु की धातु पर सञ्चक निर्माणविधि

पूर्व में प्रत्येक महाभूतों में सञ्चक के निर्माण की विधि कही जा चुकी है। अब यहाँ साधारण मृत व्यक्ति एवं अपने बन्धु-बान्धव की अस्थि धातु से सञ्चक के निर्माण की विधि को पृथक् रूप से कहा जा रहा है।

यदि कोई साधारण मृत व्यक्ति की अस्थि से सञ्चक का निर्माण करना चाहता है तो उसके लिए पूर्वंगम विधि पहले की भाँति ही है, परन्तु उसके मन्त्र के लिए 'ॐ वज्रसमय जः हूँ वं हो' इस मन्त्र का जप करके अस्थियों को एक स्वच्छ पात्र में रखें। उस धातु को ऊपर-नीचे करते हुए दर्पण में दिखाएं। तदुपरान्त अभिमन्त्रित जल अथवा कलशजल से स्नान कराना चाहिए। उससे पूर्व स्नानविधि, जो पहले कही जा चुकी है, तदनुसार यहाँ भी उसी के अनुसार करना चाहिये।

यदि वह व्यक्ति पापी न हो और अपना कोई भाई-बन्धु हो तो उसकी धातुओं को महीन पीसकर पानी में विशुद्ध करें। इस प्रकार की विशुद्ध धातु को सञ्चक बनाने के लिए मिट्टी के ऊपरी भाग पर विलेपन करें। अन्य कोई जीवित व्यक्ति का दाँत, बाल एवं नाखून से सञ्चक बनाना चाहें तो यही विधि लागू होती है—ऐसा तिब्बत के वरिष्ठ विद्वान् 'कर्म छग् मेद्' ने कहा है।[2]

सञ्चक निर्माण की अनुशंसा

सामान्य तौर पर तथागत के प्रतिबिम्ब, चैत्य अथवा सञ्चक से चैत्य का निर्माण करने से अपरिमित अनुशंसा वर्णित है—ऐसा सूत्र एवं तन्त्र के अतिरिक्त अनेक शास्त्रों में

---

1. तो० 601, तन्त्रवर्ग 'फ' ।
2. सञ्चक निर्माणविधि-पुण्यसुमेरु, पोथी 'ऊं' ।

स्पष्ट रूप से उल्लेख प्राप्त होता है। उन सभी अनुशंसाओं को यहाँ प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है। यहाँ दिग्दर्शन के रूप में कुछ ही आगमों को प्रस्तुत किया जा रहा है।

यदि कोई ऐसा कहे कि मात्र एक चैत्य का निर्माण करने से कितनी अनुशंसा प्राप्त होगी? तो इसके लिए 'वैरोचनाभिसम्बोधितन्त्र' में कहा गया है कि "एक चैत्य का निर्माण करने से उस चैत्य में स्थित परमाणुओं की संख्या के बराबर अनुशंसा प्राप्त होगी और जितनी परमाणुओं की संख्या है, उतनी संख्या में देव और मनुष्य की शुभ योनियों में जन्म प्राप्त होगा तथा व्यक्ति जहाँ भी जन्म लेगा, वहाँ उसे पूर्वजन्मों का स्मरण रहेगा और शीघ्र अनुत्तर सम्यक्सम्बोधि का लाभ होगा[1]।"

कूटागारसूत्र में भगवान् ने कहा है कि "इस पृथ्वी के कोई श्रद्धावान् कुलपुत्र अथवा कुलपुत्री द्वारा सात प्रकार के रत्न एक पात्र में पूर्णरूप से भरकर उसको स्रोत-आपन्न, सकृदागामी, अनागामी, अर्हत्, प्रत्येकबुद्ध एवं चतुर्दिशाओं में अवस्थित संघ को अर्पित करने से भी अधिक पुण्य उनको होता है, जिन्होंने तथागत अर्हत् सम्यक्सम्बुद्ध के परिनिर्वाण चैत्य का आमलकपरिमाण मिट्टी से निर्माण किया है। उसमें मात्र सूची के समान परिमाण वाली यष्टि डाल दी है, बदरफलपरिमाण मात्र छत्र लगा दिया है, अन्न के दाने के बराबर कायबिम्ब की अस्थि निहित कर दी है, सर्षपफलपरिमाण मात्र अस्थिधातु निहित कर दी है, हे आनन्द, उन्हें पूर्वोक्त पुण्य से भी अधिक पुण्य प्राप्त होता है—ऐसा मैं कहता हूँ।"

इस प्रकार इस सूत्र में चैत्य निर्माण से होनेवाली पुण्यवृद्धि के विषय में विस्तार से कहा गया है। अतः इस सूत्र से यह संकेत मिलता है कि जिस व्यक्ति ने सप्तरत्नों से परिपूर्ण पात्र अर्पित किया है, उसके पुण्यों से भी अधिक पुण्यसम्भार प्राप्त होता है, जिन्होंने एक छोटे आकार के भी साँचे से निर्मित चैत्य का निर्माण किया है। आर्यसद्धर्मपुण्डरीकसूत्र[2] में भी कहा गया है—

ये चापि धातून करोन्ति पूजां
जिनान तेषां परिनिर्वृतानाम् ।

---

1. यावन्तस्तस्मिन् परमाणवस्तावन्त्यः कोटयः चैत्यानि कृतानि भवन्ति, परमाणुसंख्यातानि पुण्यानि प्रतिलभते। दशभूमीश्वरो भवति, क्षिप्रं चानुत्तरां सम्यक्सम्बोधिमभिसम्भोत्स्यते इदमवोचद् भगवान् वैरोचनस्तथागतः। (द्र०-अद्वयवज्रसंग्रहे कुदृष्टिनिर्घातनम्, पृ० 8)
2. सद्धर्मपुण्डरीक, उपायकौशल्यपरिवर्त, 2.78-86, पृ० 34-35 (दरभंगा संस्करण, 1960)

रत्नामयान् स्तूपसहस्त्र नेकान्
सुवर्णरूप्यस्य च स्फाटिकस्य ।।

ये चाश्मगर्भस्य करोन्ति स्तूपान्
कर्केतनामुक्तमयांश्च केचित् ।
वैडूर्यश्रेष्ठस्य तथेन्द्रनीलान्
ते सर्वि बोधाय अभूषि लाभिनः ।।

जो निर्वाणप्राप्त बुद्धों के धातुओं की पूजा करते हैं और जो अनेक सहस्रों स्तूपों का रत्न, सुवर्ण, रजत, स्फटिक मणि से निर्माण करते हैं तथा जो कोई अश्मगर्भ, कर्केतन और मुक्ता से और श्रेष्ठ वैडूर्य एवं इन्द्रनील मणि से स्तूपों का निर्माण करते हैं, वे सभी बोधि के लाभी होते हैं।

ये चापि शैलेषु करोन्ति स्तूपान्
ये चन्दनानामगुरुस्य केचित् ।
ये देवदारुस्य करोन्ति स्तूपान्
ये दारुसंघातमयांश्च केचित् ।।

इष्टामयान् मृत्तिकसंचितान् वा
प्रीताश्च कुर्वन्ति जिनान स्तूपान् ।
उद्दिश्य ये पांसुकराशयोऽपि
अटवीषु दुर्गेषु च कारयन्ति ।।

सिकतामयान् वा पुन कूट कृत्वा
ये केचिदुद्दिश्य जिनान स्तूपान् ।
कुमारकाः क्रीडिषु तत्र तत्र
ते सर्वि बोधाय अभूषि लाभिनः ।।

जो (व्यक्ति) पर्वतों में स्तूप का निर्माण करते हैं और जो कोई चन्दन और अगुरु (लकड़ी) से स्तूप बनाते हैं तथा जो देवदारु से स्तूप का निर्माण करते हैं और जो कोई काष्ठसमूह से निर्माण करते हैं।

जो प्रसन्नचित्त से ईंट अथवा मिट्टी से बुद्धों के स्तूप का निर्माण करते हैं और जो धूलि की राशि से वन और दुर्ग में स्तूप को बनवाते हैं।

बालू का ढेर बनाकर उससे जिन (बुद्ध) का स्तूप बनाकर बालक लोग जहाँ-तहाँ क्रीडा (खेल) करते हैं, वे सब भी बोधि का लाभ करते हैं।

सीसस्य लोहस्य च मृत्तिकस्य वा
कारापयीषु सुगतान् विग्रहान् ।
ये पुस्तकर्मामय दर्शनीयां-
स्ते सर्वि बोधाय अभूषि लाभिनः ।।

जो (व्यक्ति) सीसे, लौह अथवा मृत्तिका से बुद्धों के विग्रह (शरीर) का निर्माण कराते हैं और जो पुस्तक (पोथी) बनाते समय मनोहारी चित्र का निर्माण करते हैं, वे सभी बोधि का लाभ करते हैं।

ये चित्रभित्तीषु करोन्ति विग्रहान्
परिपूर्णगात्रान् शतपुण्यलक्षणान् ।
लिखेत् स्वयं चापि लिखापयेद् वा
ते सर्वि बोधाय अभूषि लाभिनः ।।

जो (व्यक्ति) भगवान् बुद्ध के सैकड़ों पुण्यों से निष्पन्न लक्षणों से युक्त, परिपूर्ण (अङ्गोंपाङ्ग से युक्त) गात्र या विग्रह का भित्ति पर चित्रांकन करते हैं, जो स्वयं लिखते (बनाते) या लिखाते (बनवाते) हैं, वे सभी बोधि का लाभ करते हैं।

राजाप्रसेनजितगाथासूत्र[1] में कहा गया है—"भगवान् तथागत ने कहा कि चैत्य एवं काय रूपी प्रतिबिम्ब का जिन्होंने निर्माण किया है, उनको उस प्रतिबिम्ब में स्थित जितने परमाणु हैं, उनकी संख्या के बराबर उन्हें भविष्य में निश्चयपूर्वक देवलोक के राजसिंहासन प्राप्त होंगे।

जिन्होंने जिन तथागत के प्रतिबिम्ब का निर्माण किया है, वे भविष्य में सुन्दर, मनोहारी, गुणवान् इन्द्रियसंयमी और सूर्य की भाँति प्रभास्वर होंगे और वे लोक के चक्षुओं में सर्वदा दृश्यमान रहेंगे।

मुनीन्द्र के चैत्य का निर्माण करने वाला व्यक्ति सर्वथा शोक से रहित, स्वस्थ, धनवान् एवं अनेक रत्नभण्डारों से सम्पन्न रहेगा। वह शत्रुओं से भी अप्रधर्षित रहेगा।"

---

1. तो० 322, सूत्रवर्ग 'स' ।

इसके अतिरिक्त तथागत के चैत्य में यष्टि, छत्र, पाषाण एवं मृत्तिका, स्वर्ण, रजत इत्यादि अर्पित करनेवालों को भी अनेक अनुशंसाएं प्राप्त होने का आश्वासन दिया गया है। आगे की एक गाथा में भी कहा गया है—"मुनीन्द्र के चैत्य को स्वर्ण एवं रजत से अलंकृत करनेवाले व्यक्ति दूसरे जन्मों में स्वस्थ, वर्णवान्, प्रभास्वर, मनोहारी एवं बलवान् पुरुष के रूप में उत्पन्न होंगे"। इसके अतिरिक्त इन मुनीन्द्र के चैत्यों में अन्य वस्तु प्रदान करनेवाले व्यक्तियों को अपने-अपने अर्पित वस्तुओं के अनुरूप अनुशंसाएं प्राप्त होंगी—ऐसा विस्तार से उल्लेख किया गया है।

पापविशोधन के लिए भी चैत्यनिर्माण करना अत्यन्त आवश्यक है। जैसा कि आर्यसुबाहुपरिपृच्छातन्त्र[1] में कहा गया है—

शुचौ विविक्ते पृथिवीप्रदेशे
मृदाऽथवा बालुकया हि कार्यम् ।
प्रतीत्यसारं सुगतस्य चैत्यं
कुर्यात् सदा पापविशोधनाय ।।

और भी इसी तन्त्र में आगे कहा गया है—

सम्मार्ज्य भूमिं वसतिं विधाय
चोष्णत्वदार्ढ्याय हि तां लिपेत ।
प्राचीप्रतीच्युत्तरद्वाः प्रशस्ताः
द्वारं ह्यपाच्यां न कदापि कुर्यात् ।।

अर्थात् भूमि की सफाई करके तथा (स्तूप के लिए) स्थान बनाकर उसकी उष्णता एवं दृढ़ता के लिए लेपन करें। पूर्व, पश्चिम और उत्तर दिशा में ही द्वार बनाना अच्छा है। कभी भी दक्षिण दिशा की ओर द्वार न बनाएं।

इसी तन्त्र में और आगे कहा है—"किसी जप करने वाले से होम के द्वारा मन्त्र की साधना प्राप्त करने पर भी सिद्धि प्राप्त नहीं की जा सके तो मृत्तिका के द्वारा लाखों चैत्यों का निर्माण करें तथा किसी नदी के किनारे बालू में साँचे से चैत्य का निर्माण करें। इससे उसका ऐहिक पाप और पूर्वकृत पापों का क्षय हो जाता है और वह व्यक्ति मन्त्र के बल से इसी जन्म में अर्थात् दृष्टधर्म में ही मन्त्रयान का फल प्राप्त करेगा"।

---

1. तो० 805, तन्त्रवर्ग 'व' ।

तथागतप्रतिबिम्बपरिच्छेदसूत्र[1] में भी कहा है—"कोई व्यक्ति दश अकुशलकर्मपथ से युक्त हो जाने पर भी तथागत के प्रति श्रद्धा उत्पाद करके तथागत के कायस्वरूप प्रतिबिम्ब का निर्माण करे तो उसके पूर्व संचित पापों का विनाश हो जाता है"। सर्वदुर्गतिपरिशोधनतन्त्र में भी कहा गया है—

चैत्यकर्म कुर्याद् यावल्लक्षं परिपूर्णं
महापापिनः पापक्षयाय कोटिमपि पूरयेत् ।
एवं कृते तेऽवश्यं नरकाद् मुक्ता भवन्ति ।।

अर्थात् जब तक लाख संख्या पूर्ण न हो तब तक पापविशोधनार्थ चैत्यनिर्माण कर्म करें। महापापी के पापक्षय के लिए करोड़ संख्या को पूर्ण करें। फलतः वे अवश्य नरक से मुक्त होते हैं।

सर्वदुर्गतिपरिशोधनतेजोराजस्य तथागतस्य अर्हतः सम्यक्सम्बुद्धस्य कल्पनाम तन्त्र[2] में भी कहा गया है—"मन्त्र जप एवं भावना करने से पाप का विनाश हो सकता है। इसके अतिरिक्त नाममात्र लिखने और चैत्य को माला अर्पित करने अथवा बुद्ध के कायस्वरूप प्रतिबिम्ब के निर्माण करने से भी पापविशोधन होता है और होमपूर्वक अभिषेक करे तो निश्चित रूप से वह व्यक्ति सुगति में उत्पन्न होगा।"

विशेष रूप से अपने हाथ से सञ्चक निर्माण करे तो उसको अपरिमित अनुशंसा प्राप्त होती है, जैसे मञ्जुश्रीमूलकल्पतन्त्र[3] में भी कहा गया है—"कायिक पापों के परिशोधन के लिए स्वयं अपने हाथ से चैत्य का निर्माण करने से पञ्च आनन्तर्य पापों का भी विनाश हो जाता है। एक लाख चैत्यों का निर्माण करने से विद्याधर चक्रवर्ती राजा का पद प्राप्त होगा। समस्त वस्तुओं की अभिज्ञा प्राप्त होगी, कल्पों तक जीवित रहने का सामर्थ्य प्राप्त होगा। मृत्यु के पश्चात् अन्य जन्मों में राजा का पद प्राप्त करेगा और कदापि दुर्गति में पतन नहीं होगा। मध्यदेश में उत्पन्न होकर सूर्य के समान प्रकाशित होगा एवं परिपूर्णेन्द्रिय होकर उत्पन्न होगा तथा श्रुतिधर एवं पूर्वजन्मों की स्मृतिवाला होगा।"

प्रत्येक सञ्चक में तथागत के तीनों काय सम्पन्न हैं, जैसे—सञ्चक निर्माणकाय, मन्त्र एवं अक्षर सम्भोगकाय तथा समाधि से उत्पन्न शून्यता धर्मकाय है। जैसे सर्वज्ञगुह्यतन्त्र में

---

1. तो० 320, सूत्रवर्ग 'स' ।
2. तो० 485, तन्त्रवर्ग 'त' ।
3. तो० 543, तन्त्रवर्ग, 'न' ।

कहा गया है—"तत्पश्चात् महासम्भार के संचय के लिए साँचे की भूमि पर रत्नों को रगड़ कर सात अक्षरों (ॐ मणिपद्मे हूँ ह्रीः) के मन्त्र का जप करके बिम्बवलन बनाए। स्वयं में इष्टदेव के स्वरूप की भावना करके शून्यस्वरूप धर्मकाय के स्वरूप में बिम्बवलनरूपी (मन्त्र एवं अक्षर) सम्भोगकाय स्थापित करके सञ्चक (साँचे) रूपी निर्माणकाय बुद्धों द्वारा सत्त्वार्थ करने के लिए सर्वज्ञ के मार्ग में प्रतिपन्न हों।"

अतः इस आगम से यह भी परिलक्षित होता है कि इसमें तथागत के तीनों काय, वाक् एवं चित्त का प्रदर्शन किया गया है। निर्माणकाय रूपी सञ्चक से काय का, सम्भोगकाय रूपी मन्त्र एवं अक्षर से वाक् का तथा समाधि के बल से उत्पन्न धर्मकाय से चित्त के स्वरूप को व्यक्त किया जाता है। ऐसी व्याख्या का तिब्बत के वरिष्ठ विद्वान् 'कर्म छग् मेद्' ने अपने 'सञ्चक निर्माणविधि पुण्यसुमेरु[1]' नामक ग्रन्थ में उल्लेख किया है।

संक्षेप में पुण्य एवं ज्ञान सम्भार दोनों सम्पन्न करने एवं भूमि और मार्ग के विघ्नों को दूर करने के लिए सञ्चक का निर्माण करना अत्यन्त आवश्यक है—ऐसे सञ्चक का निर्माण करने से जितनी अनुशंसाएं अर्जित की जा सकती हैं, उसके सन्दर्भ में अनेक सूत्र एवं तन्त्रों के आगमों में उल्लेख प्राप्त होता है। अतः उसके द्वारा अवबोध कर लेना चाहिए। यदि जिज्ञासु लोग सञ्चकनिर्माण की विस्तृत अनुशंसा जानना चाहें तो उन्हें अन्य अनेक सूत्र एवं तन्त्र के अनेक ग्रन्थ तो हैं ही, साथ ही, तिब्बत के महा अन्वेषक साधक 'कर्म छग् मेद्' की 'सञ्चक निर्माणविधि' एवं तिब्बत के प्रसिद्ध विद्वान् 'गुङ् थङ् तेन पई डोलमे' की 'सञ्चक निर्माणविधि' नामक ग्रन्थ इत्यादि का अवलोकन करना चाहिए।

सञ्चक निर्माण की परिणामना एवं अनुमोदना

पुण्यसंचय एवं पाप-आवरणों के परिशोधन के लिए तथा किसी जीवित या मृत व्यक्ति के लिए सञ्चकनिर्माण यदि स्वयं द्वारा किया गया है तो सञ्चक निर्माणविधि सम्पन्न होने के पश्चात् अन्त में परिणामना एवं प्रणिधान तथा अनुमोदना करना अत्यन्त आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण है—ऐसा सूत्र, तन्त्र एवं शास्त्र और पूर्व के अनेक महासाधकों ने कहा है। उसी प्रकार यहाँ पर भी परिणामना एवं अनुमोदना के सन्दर्भ में कुछ प्रकाश डाला जा रहा है।

अन्त में परिणामना किस प्रकार की जानी चाहिए, इसके लिए आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान ने अपने 'नौ सञ्चक निर्माणविधि' में किस प्रकार सञ्चक बनाने के पश्चात्

1. पोथी-'ऊं'।

कुशलमूलों की प्रत्येकशः परिणामना करने के सन्दर्भ में कहा है—ऐसा तिब्बत के पूर्व विद्वानों में प्रचलित है। परन्तु दुर्भाग्य से आचार्य के द्वारा विरचित उक्त ग्रन्थ सम्प्रति अनुपलब्ध है। अतः यहाँ वे सब नौ परिणामनाएं प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है, फिर भी आचार्य द्वारा रचित अन्य अनेक लघु सञ्चक निर्माणविधि ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, उनमें से आचार्य द्वारा रचित 'पारमितायान सञ्चक निर्माणविधि' नामक ग्रन्थ में एक संक्षिप्त परिणामना गाथा कही गई है, वह इस प्रकार है—

अनेन पुण्येन तु सर्वदर्शिता-
मवाप्य निर्जित्य च दोषविद्विषः ।
जरारुजामृत्युमहोर्मिसंकुलात्
समुद्धरेयं भवसागराज्जगत् ।।

अर्थात् इस पुण्य से सर्वज्ञता प्राप्त करके और समस्त दोषरूपी शत्रुओं को पराजित करके बुढ़ापा, रोग और मृत्युरूपी बड़ी-बड़ी तरङ्गों से युक्त भवरूपी सागर से जगत् का उद्धार करूँ।

आर्यसमन्तभद्रचर्याप्रणिधानराजसूत्र[1] में उक्त महापरिणामना का भी पाठ करें, यथा—

मञ्जुशिरी यथ जानति शूरः
सो च समन्तभद्र तथैव ।
तेषु अहं अनुशिक्षयमाणो
नामयमी कुशलं इमु सर्वम् ।।

जिस प्रकार मञ्जुश्री और (बोधिसत्त्व) शूर (परिणामना को) जानते हैं, उसी प्रकार वे समन्तभद्र भी जानते हैं। उनसे शिक्षा प्राप्त किया हुआ मैं भी इन समस्त कुशलों की परिणामना करता हूँ।

सर्वत्रियध्वगतेभि जिनेभि-
र्या परिणामन वर्णित अग्रा ।
ताय अहं कुशलं इमु सर्वं
नामयमी वर भद्रचरीये ।।

1. तो० 44, अवतंसक वर्ग 'अ' ।

तीनों कालों के सभी जिनों (बुद्धों) ने जो उत्तम परिणामना कही है। उस परिणामना के द्वारा मैं भी इन समस्त कुशलों की श्रेष्ठ भद्रचर्या के लिए परिणामना करता हूँ।

यदि कुछ विस्तृत परिणामना करना चाहें तो आचार्य अद्वयवज्र द्वारा विरचित 'कुदृष्टिनिर्घातनम्' नामक ग्रन्थ में उल्लिखित सञ्चकविधि के अन्त में जिस प्रकार परिणामना की गई है, उसके अनुसार करना चाहिए, यथा—

एतत्सर्वविशिष्टपरिणामनया परिणाम्यमानं विशिष्टफलावाहकं भवतीति। प्रज्ञापारमितोक्तेन महापरिणामेन परिणामयेत्। तद्यथा—यथा ते तथागता अर्हन्तः सम्यक्संबुद्धा बुद्धज्ञानेन बुद्धचक्षुषा जानन्ति पश्यन्ति तत्कुशलमूलं यज्जातिकं यन्निकायं यादृशं यल्लक्षणं यत्स्वभावं यया धर्मतया संविद्यते तथा अनुमोदे तत्कुशलमूलम्। यथा च ते तथागता अर्हन्तः सम्यक्संबुद्धा अभ्यनुजानति परिणाम्यमानं तत्कुशलमूलमनुत्तरायां सम्यक्संबोधौ तथाहं परिणामयामि इति। अपरम्

अनेन चाहं कुशलेन कर्मणा
भवेय बुद्धो न चिरेण लोके ।
देशेय धर्मं जगतो हिताय
मोचेय सत्त्वान् बहुदुःखपीडितान् ।।

इस प्रकार सञ्चक निर्माण करने के पश्चात्, सबसे विशिष्ट परिणामना के द्वारा परिणामित किया जाता हुआ (कुशलमूल) विशिष्ट फल का आवाहक होता है। इस तरह प्रज्ञापारमिता में कथित परिणामनाविधि से परिणामना करें। जैसे—जिस प्रकार वे तथागत, अर्हन्, सम्यक्सम्बुद्ध बुद्धज्ञान के द्वारा बुद्धचक्षु के द्वारा जानते हैं, देखते हैं कि वह कुशलमूल जिस जाति (वर्ग) का है, जिस कुल का है, जिस प्रकार का है, जिस लक्षण वाला है, जिस स्वभाव का है, जिस धर्मता से समन्वित है, उस प्रकार के कुशलमूल का अनुमोदन करता हूँ। जिस प्रकार वे तथागत, अर्हन्, सम्यक्सम्बुद्ध जानते हैं, परिणामित किये जाते हुए कुशलमूल की अनुत्तरसम्यक्सम्बोधि के लिए उसी प्रकार मैं भी परिणामना करता हूँ। पुनश्च—

इस कुशल कर्म के द्वारा मैं शीघ्र ही लोक में बुद्ध हो जाऊँ तथा जगत् के हित के लिए धर्म की देशना करूँ और अनेक (बहुत) दुःखों से पीड़ित सत्त्वों को (दुःख से) मुक्त करूँ।

•

बौद्ध एवं बौद्धेतर धर्मों में 'दीक्षा' का स्वरूप (2)

—रञ्जनकुमार शर्मा—

[विगत अंक में बौद्ध-धर्म में संवर, अभिषेक एवं दीक्षा का विवरण दिया था। प्रस्तुत अंक में जैन-धर्म में दीक्षा का स्वरूप दर्शाया जा रहा है।]

(2) जैन-धर्म

दीक्षा

दीक्षा और अभिषेक तन्त्र साधना का प्रवेशद्वार है। दीक्षा का तात्पर्य गुरु के द्वारा शिष्य की योग्यता के आधार पर उसे पूर्वापर करणीय कृत्यों का उपदेश देकर साधना हेतु विशिष्ट मन्त्र प्रदान करना है। सामान्यतया यह माना जाता है कि जिससे ज्ञान की प्राप्ति हो, पापों का संचय क्षीण हो तथा ज्ञान एवं पुण्य लोकों की प्राप्ति हो उसे दीक्षा कहते हैं।[1]

जैन-धर्म में दीक्षा का अर्थ—संचय स्वीकारना है। जैसाकि कहा गया है—

संयमः खलु जीवनम्।

संयम को ही जीवन मानने वाले पूछते हैं—हम कैसे चलें, बैठें, रहें, खायें और सोयें कि हमारे 'पाप-बन्ध' (अर्थात् किसी त्रस (चल) प्राणी को उत्पीड़क बन्धन में डालना) न हो। जैसाकि कहा गया है—

कहं चरे कहं चिट्ठे कहं आसे कहं सये ।
कहं भुंजंतो भासंतो पावकम्मं न बंधइ ।। (दशवैकालिक, अ० 4)

अर्थात् विवेक पूर्वक चलने, बैठने, रहने, खाने, बोलने से 'पाप-बन्ध' नहीं होता। और भी—

जयं चरे जयं चिट्ठे जयं आसे जयं सये ।
जयं भुंजंतो भासंतो पावकम्मं न बंधइ ।। (दशवैकालिक, अ० 4)

जैन-धर्म में सामान्यतः तीन प्रकार की दीक्षाएँ हैं—(1) सम्यक्त्वधारण-दीक्षा, (2) श्रावकत्वधारण-दीक्षा तथा (3) श्रमणत्वधारण-दीक्षा।

---

1. जैनधर्म और तान्त्रिक साधना, पृ० 345, डॉ० सागरमल जैन, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी।

(1) सम्यक्त्वधारण-दीक्षा

सामान्यतः छठवें वर्ष के प्रारम्भ में बालक को गुरु-धारणा दिलायी जाती है। इसके पश्चात् गुरु बालक को पञ्चपरमेष्ठी[1] के प्रति आदर रखना, सन्तों के आदेश को शिरोधार्य करना और नीति-नियमों में आस्था रखने की शिक्षा देते हैं। इसे सम्यक्त्व प्राप्ति कहा जाता है। यह संयम के प्रति प्रतिबद्ध रहने की प्रथम दीक्षा है। इसमें मद्य-मांस न खाने, बाँहों में भरे जाने योग्य वृक्षों को न काटने और कुछ न कुछ नियम से रहने का विधान है।

(2) श्रावकत्वधारण-दीक्षा

जो यथाशक्ति संयम स्वीकार करते हैं, उन्हें श्रावक (गृहस्थ) कहते हैं। श्रावकत्वधारण-दीक्षा 9वें वर्ष में जैन-सन्तों द्वारा दी जाती है। इस दीक्षा में द्वादश व्रतों—(क) पाँच अणुव्रत, (ख) तीन गुणव्रत तथा (ग) चार शिक्षाव्रत के पालने का विधान है।

(क) पाँच अणुव्रत[2]

(1) स्थूल प्राणातिपात-विरमण, (2) स्थूल मृषावाद-विरमण, (3) स्थूल अदत्तादान-विरमण, (4) स्वदार-संतोष, (5) इच्छा-परिमाण।

(ख) तीन गुणव्रत[3]

(1) दिशा-परिमाण-व्रत, (2) उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत तथा (3) अनर्थ-दण्डविरमणव्रत।

(ग) चार शिक्षाव्रत[4]

(1) सामयिक व्रत, (2) देशावकालिक व्रत, (3) पौषधोपवास व्रत तथा (4) अतिथिसंविभाग व्रत।

---

1. णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं णमो आयरियाणं ।
   णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ।।
   (अर्थात् अरहन्तों को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो, लोक के सभी साधुओं को नमस्कार हो।)
2. जैन आचार, पृ० 85-104, डॉ० मोहनलाल मेहता, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, जैनाश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी-5
3. वहीं, पृ० 104-113
4. वहीं, पृ० 113-119

श्रावकों के लिए यह आवश्यक है कि वे प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, रति-अरति, पर-परिवाद, माया-मृषावाद, मिथ्यादर्शन तथा शल्य का परित्याग करे। जाने या अनजाने में यदि दोष सेवन किया हो, कराया हो या करते हुए का अनुमोदन भी किया हो तो उन्हें "तस्स मिच्छामि दुक्कडं" कहकर प्रायश्चित्त करना पड़ता है। जैसाकि कहा गया है—

जहा विसं कुट्ठगयं मंत-मूल विसारया ।
विज्जं हणंति मंतेहिं तो तं हवइ निव्विसं ।।6।।

एवं अट्ठविहं कम्मं रागदोस-समज्जिअं ।
आलोअंतो अ निंदंतो खिप्पं हवइ सुसावओ ।।7।।[1]

अर्थात् जिस प्रकार कुशल वैद्य उदर में पहुँचे हुए विष को मन्त्र या जड़ी-बूटी के प्रयोग से उतार देते हैं, उसी प्रकार श्रावक राग-द्वेष से बँधने वाले आठ प्रकार के सभी पापकर्मों की आलोचना तथा निन्दा कर शीघ्र क्षय कर डालते हैं।

विवेक सम्मत चर्चा करने वाले श्रावक साधु न होने पर भी पापों का क्षय करने में समर्थ होते हैं। जैसाकि कहा गया है—

इत्याहो रात्रि किं चर्यामप्रमत्तः समाचरन् ।
यथावदुक्त वृत्तस्था गृहस्थोऽपि विशुद्धयति ।।

(योगशास्त्र, प्रकाश-3, गाथा 147)

अर्थात् श्रावक चित्त की शान्ति के लिए गृहस्थाश्रम का त्याग करते हैं और पाँच महाव्रत स्वीकार कर साधु हो जाते हैं, जिससे दोष-पूर्ण प्रवृत्तियाँ पूर्णतः रुक जाती हैं।

[2]जैन-धर्म में त्याग की कई श्रेणियाँ बतायी गई हैं। यह विभाजन तीन करण और तीन योगों के आधार पर किया जाता है। तीन करण हैं—स्वयं करना, दूसरों से कराना और अनुमोदन करना। तीन योग हैं—मन, वचन और काय। अर्थात् मन, वचन और काय से न स्वयं पाप-वृत्ति करना, न दूसरे से करवाना और न अनुमोदन करना।

---

1. आलोचना पाठ, पृ० 58, विजयमुनि, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा ।
2. जैन-धर्म, पृ० 34-35, डॉ० इन्द्रचन्द्र शास्त्री, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा ।

निम्नतम सीमा एक करण तथा एक योग है। अर्थात् अपने हाथों से स्वयं न करना। एक करण दो योग, एक करण तीन योग, दो करण एक योग आदि भंगों के आधार पर इसके 49 भेद किये जाते हैं। साधु अहिंसा आदि व्रतों का तीन करण, तीन योग से ग्रहण करते हैं, इसीलिए उन्हें महाव्रत कहा जाता है। 'समिति' का अर्थ है—चलने-फिरने, भोजन आदि में सावधानी। 'गुप्ति' का अर्थ है—मन, वचन तथा काया की प्रवृत्तियों का निरोध। साधना द्वारा जब दोषों का नाश हो जाता है और साधक जीवन-मुक्त अवस्था को प्राप्त कर लेता है, तो उसे 'केवली' कहा जाता है। उस अवस्था में 'साधना' स्वभाव बन जाती है। जब तक शरीर रहता है उसे 'अरिहंत' कहा जाता है और शरीर छूटने पर 'सिद्ध'। दीक्षित का लक्ष्य सिद्ध होना है।

जैनाचार्य महाप्रज्ञ ने चिन्तन की दो दृष्टियाँ मानी हैं—(1) निषेधात्मक तथा (2) विधेयात्मक। निषेधात्मक दृष्टि से चिन्तन करने वाला व्यक्ति हर सत्यता को नकारता चला जाता है और उसका परिणाम होता है—निराशा, अनुत्साह, आवेग, कार्य से निवृत्ति तथा कर्तव्य से पलायन। विधेयात्मक दृष्टि से चिन्तन करने वाला व्यक्ति सत्यता को उपलब्ध हो जाता है। विधेयात्मक भावों को जगाने के लिए सतत स्मृति की प्रक्रिया बहुत महत्त्वपूर्ण है। हम अनन्त ज्ञानमय, अनन्त दर्शनमय तथा अनन्त शक्तिमय हैं। यदि इनकी स्मृति सतत बनी रहे तो विधेयात्मकभाव प्रधान बन जाते हैं। [1]जैन-दीक्षा विधेयात्मकभावों को प्रधानता देने की साधना है।

(3) श्रमणत्वधारण-दीक्षा

[2]जैन परम्परा में साधु को समण कहा जाता है। इसके संस्कृत में तीन रूपान्तर हैं, जो जैन दर्शन एवं साधना के निष्कर्ष को प्रकट करते हैं। वे हैं—(क) समण, (ख) श्रमण तथा (ग) शमन।

(क) समण

इसका अर्थ है—समता का आराधक। समण जीवन में समता को उतारता है।

(ख) श्रमण

इसका अर्थ है—श्रम का आराधक। प्रत्येक व्यक्ति अपने सुख-दुःख का स्वयं निर्माता है। अपने को बनाना या बिगाड़ना स्वयं अपने ही श्रम (पुरुषार्थ) पर निर्भर करता है।

---

1. कैसे सोचें, कवर पृष्ठ-2, आचार्य महाप्रज्ञ ।
2. जैन-धर्म, पृ० 17, डॉ० इन्द्रचन्द्र शास्त्री ।

(ग) शमन

इसका अर्थ है—अपनी उद्दाम वृत्तियों का शमन। कल्याण का मार्ग इच्छाओं और उद्दाम वृत्तियों की पूर्ति में नहीं, शमन में है। इसी का पारिभाषिक नाम है—संयम।

जैन परम्परा के अनुसार कोई भी व्यक्ति सम्यक्त्व ग्रहण के पश्चात् अपनी स्वेच्छा से गृहस्थ-धर्म या मुनिधर्म किसी का भी चयन करता है।

श्रमणत्व की दीक्षा के लिए सामान्यत: जब सिर में सफेद बाल आयें, तब साधु बनने का विधान है, लेकिन जिनकी वृत्ति संयमित हो और जिनके मन में वैराग्य की भावनाएँ तरंगित हों ऐसा कोई नौ वर्ष के पश्चात् की आयु वाला व्यक्ति श्रमण बन सकता है।

श्रमणत्व-दीक्षा में गुरु जब किसी को दीक्षा देते हैं तो दीक्षार्थी अपने माता-पिता, अभिभावक, स्वजनों की अनुमति से सार्वजनिक सभा में—"करेमि भंते सामह्यं सव्वं सावज्जं पच्चक्खामि" कहकर सारे पापकर्मों से विरत रहने का संकल्प लेता है। तभी वह दीक्षित माना जाता है। इसे छुल्लक-दीक्षा या सामयिक-चारित्र कहते हैं। तत्पश्चात् उसका व्रतारोपण होता है। इसमें वह अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह जैसे पाँच महाव्रतों के पालन का नियम ग्रहण करता है। इसे मुनि-दीक्षा या छेदोपस्थापनीय चारित्र (बड़ी दीक्षा) कहते हैं। दीक्षित की दो चर्याएँ होती हैं—(क) स्थविरकल्प तथा (ख) जिनकल्प।[1]

जिनकल्प मुनि मयूर पिच्छ और कमण्डल रखते हैं, किन्तु स्थविरकल्प मुनि सीमित मात्रा में वस्त्र, रजोहरण आदि भी रखते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में वस्तु परिग्रह नहीं, आसक्ति परिग्रह है। जैसाकि कहा गया है—

मुच्छा परिग्गहो वुत्तो।[2] (दशवैकालिक)

गणधर गौतम और केशी श्रमण का संवाद इस दृष्टि से पठनीय है। केशी पूछते हैं—हे गौतम! यह संसार बड़ा भारी समुद्र है और अनन्तकाल से हमारी नौका इसमें भटक रही है, लेकिन आपकी नौका किनारे की ओर किस कारण से बढ़ती जा रही है? गौतम बोले—मैंने व्रत-साधना के द्वारा अपनी नौका के छेदों को बन्द कर दिया है।

---

1. उपासक आनन्द, पृ० 261-264, अमरमुनि।
2. द्र०-'मूर्च्छा परिग्रह: 7.12', तत्त्वार्थसूत्र, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी।

प्रत्येक दीक्षित व्यक्ति को जानना चाहिए कि इस शरीर रूपी नाव में काम, क्रोध, मद, अहंकार, मोह, लोभ, हिंसा, असत्य आदि का आस्रव रूपी गज आ रहा है, उसे संयम द्वारा रोकने से ही शरीर रूपी नौका आत्मा को समुद्र से पार पहुँचाती है।

[1]मुनि-दीक्षा के पश्चात् दीक्षार्थी की योग्यता, आयु, दीक्षाकाल आदि के आधार पर योगोद्वहन सम्बन्धी दीक्षा-विधि है। इसमें साधक विभिन्न प्रकार की तप:साधना के साथ आगमिक ग्रन्थों का अध्ययन एवं विद्याओं की साधना प्रारम्भ करता है। आगमों का अध्ययन सम्पन्न होने पर योग्यता के अनुरूप उसे गणि, उपाध्याय, आचार्य आदि पदों पर अभिषिक्त करने की विधि सम्पन्न की जाती है। इस अवसर पर वह सूरिमन्त्र—

1. ॐ नमो जिणाणं।
2. ॐ नमो ओहिजिणाणं।
3. ॐ नमो परमोहिजिणाणं।
4. ॐ नमो अणंतोहिजिणाणं।
5. ॐ नमो अणंताणंतोहिजिणाणं आदि की विशिष्ट साधना भी करता है। इसे पदस्थापना या पदाभिषेक भी कहा जाता है। इसके पश्चात् जीवन की अन्तिम सन्ध्या में साधक पुन: पूर्वपदों का त्याग करके नवीन दीक्षा ग्रहण कर समाधिमरण की साधना करता है।

जैन-धर्म की स्थानकवासी एवं तेरापन्थी परम्पराओं में दीक्षा के लिए जटिल विधान नहीं है, किन्तु श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में विभिन्न दीक्षाओं में तन्त्र से प्रभावित दीक्षा सम्बन्धी विधि-विधान होते हैं, जिनकी चर्या निर्वाणकलिका, विधिमार्गप्रज्ञा में विस्तार से उद्धृत है। इसी प्रकार दिगम्बर समाज में दीक्षा तभी होती है, जब पूर्व में ब्रह्मचारी, फिर क्षुल्लक तथा एल्लक की साधना कर ली जाती है, तब मुनि-दीक्षा का विधान है।

•

1. जैनधर्म और तान्त्रिक साधना, पृ० 345-347, डॉ० सागरमल जैन।

तन्त्र की सामान्य एवं संक्षिप्त व्यवस्था (7)

—छेरिंग डोलकर—

[इस शीर्षक के अन्तर्गत आचार्य बुस्तोन रिन्पोछे द्वारा रचित ग्रन्थ ''सामान्य एवं संक्षिप्त तन्त्रोपन्यास रत्ननिधि द्वारोद्घाटक कुञ्जी'' नामक ग्रन्थ का क्रमशः हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है। प्रस्तुत अंक में ''भगवान् बुद्ध द्वारा तन्त्र की देशना'' नामक शीर्षक में से 'बुद्ध ने तन्त्रों की देशना किस प्रकार दी' इस उपशीर्षक का क्रिया, चर्या और योग तन्त्र की देशना का हिन्दी अनुवाद क्रमशः दिया जा रहा है।]

III. बुद्ध ने तन्त्र की देशना किस प्रकार दी

बुद्ध ने तन्त्र की देशना क्रिया, चर्या, योग और अनुत्तरयोग चार प्रकार से दी।

क्रियातन्त्र की देशना

क्रियातन्त्र की देशना को छह विषयों में बाँटकर कहा जा रहा है। वे हैं—

(क) बुद्ध द्वारा अभिसम्बोधि की प्राप्ति।

(ख) बुद्धत्व प्राप्ति के पश्चात् धर्मचक्र प्रवर्तन।

(ग) विशिष्ट क्रियातन्त्र का (धर्म)चक्र प्रवर्तन।

(घ) धर्मचक्र प्रवर्तन के पश्चात् परिनिर्वाण प्राप्ति।

(ङ) परिनिर्वाण के पश्चात् धर्म का संगायन।

(च) संगृहीत धर्म (बुद्धशासन) की स्थिति।

(क) बुद्ध द्वारा अभिसम्बोधि की प्राप्ति

इसके तीन भाग हैं—आदि में बोधिचित्तोत्पाद, मध्य में तीन असंख्येय कल्पों में सम्भारों का संचयन और (अन्त में) सम्भार संचित कर बोधि की प्राप्ति।

प्रथमतः आदि में बोधिचित्तोत्पाद—**सर्वतथागताधिष्ठानबुद्धव्यूहसंदर्शननाम धारणी** (तो० 98) में इस प्रकार कहा है—''पूर्व में मेरे द्वारा प्रथम चित्तोत्पाद से लेकर पुष्पालोकसन्दर्शन नामक तथागत से मैंने यह सुना''। इस प्रकार प्रथम चित्तोत्पाद के बाद मन्त्रचर्या करने का व्याकरण उसी धारणी में कहा है।

दूसरा, मध्य में तीन असंख्येय कल्पों में संभार का सञ्चयन—**बुद्धभगवदष्टोत्तरशत-नाम धारणी** (तो० 532) में कहा है—''अहो महागुण वाले बुद्ध, तीन असंख्येय कल्पों में संचित...''। इस प्रकार गुह्य मन्त्र चर्या के आचरण द्वारा पुण्य और ज्ञानसम्भार के संचय से काश्यप बुद्ध के अवतरण के समय ब्राह्मण माणवक के गुरु के रूप में जन्म लिया। उस समय (उस जन्म) तक संभार का संचय पूर्ण हुआ।

तृतीय, संभार संचित कर बोधि की प्राप्ति—तत्पश्चात् (उस जन्म के पश्चात्) सत् सितकेतु के रूप में (तुषित में) जन्म लेकर देवताओं को धर्मदेशना दी। उसके बाद मनुष्य (लोक) में जन्म लेकर बोधि प्राप्त की। **मञ्जुश्रीमूल(कल्प)तन्त्र**[1] में कहा है—

''उस समय पूर्वजन्म में, कपिलवस्तु नगर के,
शाक्यों के प्रधान के कुल में, संसारिक कारागार में मेरा जन्म हुआ।

1. अपश्चिमा मे तथा जातिः नगरे कपिलवास्तुके ।
शाक्यानां च कुले मुख्ये जातोऽहं भवचारके ।। 24 ।।
ततोऽहं त्यज्य दुःखात्म्यं निर्यातोऽहं गृहात्तथा ।
बहुतीर्थांस्तथा सेव्य न च प्राप्तोऽमृतः पुनः ।। 25 ।।
दुष्करं च मया चीर्णं कायं संताप्यतश्चैनम् ।
षडब्दमुषितः भ्रष्टदेहं वापि विशुष्कतः ।। 26 ।।
न च किञ्चिन्मया लब्धं येनाज्ञानमपावृतम् ।
ततोत्थाय मया तत्र आहारं कृथ शुभोदनम् ।। 27 ।।
देवतासूचितं मार्गं गतोऽहं तत्र भूतलम् ।
नद्या नैरञ्जनातीरे वृक्षराजे सुशोभने ।। 28 ।।
नानापुष्पसमाकीर्णे तथा रम्येऽथ भूतले ।
महावनफलोपेते नानावृक्षसमुद्भवे ।। 29 ।।
महानदीपरिवेष्ट्यान्ते तरुमूले ततो ह्ययम् ।
यो स्वकं दृष्टमात्रं तु भूभागं धृतिसंलभे ।। 30 ।।
तथैवाहं तं तरुं दृष्ट्वा पर्णशाखोपशोभितम् ।
महावृक्षं महाच्छायं मूलगूढोपशोभितम् ।। 31 ।।
अश्वत्थेऽश्वत्थतां गच्छेत् तरुमूले निषद्य वै ।
धृतिं तत्राभिविन्दामि ध्यानं चापि समाधिकम् ।
प्राप्तं तत्र अनाशां वै (अनाभासां) रात्र्यन्ते जातिरन्तकम् ।। 32 ।।
मारेण बहुधा विघ्ना अनेकाकारसुयोजिताः ।
भग्नसैन्यः परावृत्य गतोसौ स्वभवनं पुनः ।। 33 ।। (आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प, पृ० 452-453),
भोट एवं संस्कृत श्लोकों में किञ्चित् पाठभिन्नता है, यहाँ अनुवाद में भोटानुसार ही पाठ दिया है।

मैं दु:ख स्वभाव के त्याग हेतु, अपने गृह से निकला।
उस समय बहुत से तीर्थिकों का आश्रय लिया (फिर भी) अमृत (बोधि) प्राप्त नहीं हुआ।
छह वर्षों तक मैंने दुष्कर तपस्या भी की।
काय के लम्बे संताप से शरीर भी नष्ट और शुष्क हो गया।
(फिर भी) ज्ञान और ज्ञेय का किञ्चित् भी प्रकाश प्राप्त नहीं हुआ।
तब मैंने उठकर श्वेत खीर को ग्रहण किया।
देवताओं द्वारा सूचित (संकेतित) किये गये मार्ग से मैं उस भूतल पर गया,
नैरञ्जना नदी के तट पर वृक्ष राज सुशोभित था।
नाना पुष्पों से व्याप्त (वह) सुरम्य भूतल,
फलों से युक्त (वह) महावन अनेक प्रकार के वृक्षों से युक्त था।
महानदी से परिवेष्टित उस वृक्ष मूल के समीप मैं गया,
उस भूमि को देखने मात्र से मेरा चित्त स्थिर होने लगा।
इस प्रकार पत्रों और शाखाओं से सुभोभित महावृक्ष को,
(उसकी) महा छाया और अदृश्य मूल को देखकर,
(उस) सेवनीय अश्वत्थ वृक्ष के मूल में बैठने से मेरा मन अत्यन्त शुद्ध हुआ।
वहाँ ध्यान और समाधि में दृढ़ता भी प्राप्त हुई।
रात्रि के अन्त (अन्तिम याम) में जन्म का अन्त किया।
(उससे) वहाँ अनाभासता भी प्राप्त किया।
मारों ने अनेक प्रकार की विघ्न-बाधाओं को (उपस्थित) किया,
मार सेना भग्न (पराजित) होकर पुनः अपने स्थानों में लौट गई।''

इस प्रकार ससैन्य मार को पराजित कर बुद्धत्व को प्राप्त हुआ।

(ख) बुद्धत्व प्राप्ति के पश्चात् धर्मचक्र प्रवर्तन

वहीं (**मञ्जुश्रीमूल(कल्प)तन्त्र** में)[1] कहा है—

''इसीलिये मन्त्र और तन्त्र को (निश्चित रूप से) अनेक प्रकार से कहा है।

1. तदर्थे मन्त्रतन्त्रा वै भाषिता बहुधा पुनः ।
अनेकाकारप्रयोगाश्च ध्याना ज्ञानाश्च भाषिताः ।। 34 ।।
त्रिधा यानं पुनस्तत्र चरितं सर्वसेवितम् ।
प्रतिपक्षा हि दोषाणां त्रिधा चैव प्रकाशिताः ।। 35 ।।

अनेक प्रकार के प्रयोग और ज्ञान तथा ध्यान को भी कहा है।

उसमें तीनों यानों का भी आचरण होता है, दूसरों को (बुद्ध) शासन में प्रवेश कराता है।

मन के तीनों दोषों के प्रतिपक्ष को भी प्रकाशित करता है।

उसके पश्चात् उठकर पुनः उरुबिल्व जाकर शुभ जल से स्नान किया।

वहाँ आये ऋषियों को शिष्यों सहित प्रव्रजित किया।

अनेक प्रकार के सत्त्वार्थों को कर मैं वहाँ से पुनः चला

और क्रमशः रम्य काशीपुरी में प्रविष्ट हुआ।

आदि बुद्धों के उस महर्द्धिक स्थान में जाकर,

मैंने वहाँ स्थित काशी जनों को शान्त एवं निर्वाण कारक धर्मचक्र प्रवर्तित किया।

सुर एवं असुर लोक सहित पञ्चगतियों (के सत्त्वों) और सभी भूतों के सुखार्थ वहाँ धर्म की देशना दी।

ततोत्थाय पुनर्गत्वा उरुबिल्वं शुभोदकम् ।
स्नात्वाम्भसे तत्र ऋषीन् प्रव्रज्य सशिष्यकान् ।। 36 ।।
सत्त्वार्थं बहुधा कृत्वा प्रक्रान्तोऽहं ततः पुनः ।
पुनः काशिपुरीं रम्यां अनुपूर्व्या समाविशम् ।। 37 ।।
तत्र स्थाने तु गत्वा वै पुरा बुद्धा महर्द्धिकाः ।
तत्राहं स्थितो देशे जने काशिजने स्वयम् ।
प्रवर्त्य चक्रं साधर्म्यशान्तिनिर्वाणकारकम् ।। 38 ।।
ससुरासुरलोकानां गतिं पञ्चसुनिसृताम् ।
सर्वभूतसुखार्थाय तत्र धर्मः प्रकाशितः ।। 39 ।।
आदिबुद्धैः पुरा तत्र धर्मचक्रं प्रवर्तितम् ।
मयापि दिशि तत्र धर्मचक्रो ह्यनुत्तरः ।। 40 ।।
भवमुक्तिसुखार्थाय सत्त्वदोषनिवारणम् ।
प्रवर्त्य चक्रं ब्राह्मं वै क्षेमं शान्तिपरायणम् ।। 41 ।।
भवमार्गविनाशार्थं चतुःसत्यसमाधिजम् ।
आर्याष्टाङ्गिकं मार्गं चतुर्ब्राह्मविभूषितम् ।। 42 ।।
सप्रतीत्यसमुत्पादं द्वादशाकारकारितम् ।
अविद्यानिरोधसंयुक्तं विद्यामुत्पादनेमिजम् ।। 43 ।।
भ्रामिता कोटितथ्यं वै भूतकोटिसुकोटिजम् ।
अनुलोमविलोमाभ्यां गतिमाहात्म्यनेमिजम् ।। 44 ।।

आदि बुद्धों ने (भी) पहले वहाँ धर्मचक्र प्रवर्तित किया।
मैंने भी वहाँ अनुत्तर धर्मचक्र की देशना दी।
संसार से मुक्ति और सुख के लिए तथा सत्त्वों के दोष निवारण के लिए,
क्षेम कारक शान्तिपरायण ब्रह्मचक्र का प्रवर्तन किया।
संसार (आवागमन) मार्ग के विनाश के लिए, समाधि से उद्भूत चार सत्य
और आर्याष्टाङ्गिक मार्ग, चार ब्राह्म (विहार) से विभूषित,
द्वादश आकारों में विभाजित प्रतीत्यसमुत्पाद सहित,
अविद्या और निरोध से संयुक्त, क्रम से उत्पन्न विद्या
भूतकोटि सुकोटि से उत्पन्न, कोटि तत्त्व (तथता) का निर्देश किया।
अनुलोम और विलोम, (क्रम से) अन्ततः आत्माधिगम (ज्ञान) उत्पन्न हुआ।
बहुत से सत्त्वों के मोक्षार्थ, शान्त चक्र संप्रदर्शित किया।
तब मैं विशाल एवं रमणीय काशी नगर से श्रावस्ती गया।
उस समय तीर्थिकों के दमन के लिए महाप्रातिहार्य (प्रदर्शित) किया।
मनुष्य लोक में उस समय ऋद्धि का प्रदर्शन किया।

संप्रदेशशिवं चक्रं बहुसत्त्वान् विमोक्ष च ।
विमुच्य काशिपुरीं रम्यां श्रावस्त्यामहं तदा गमे ।। 45 ।।
तीर्थिकानां तथा वर्ज्या प्रातिहार्यैर्विकुर्वणैः ।
सांकाश्ये तथा कृत्वा ऋद्धिर्जनपदे तदा ।। 46 ।।
बहुतीर्थायतनान् स्थानान् संप्रतोष्य तदा पुनः ।
अग्निभाण्डे जने कृत्वा देवावतरणं शुभम् ।। 47 ।।
त्रायस्त्रिंशेषु देवेषु शक्रं संयोज्य धर्मताम् ।
अकनिष्ठाद्यांस्तथा देवान् ब्रह्मादीशपुरंदरान् ।। 48 ।।
सवैश्रवणयक्षेन्द्रांश्चतुर्महाराजकायिकान् सदा ।
मत्ताकरोपमाणांश्च त्रिवीणां मालधारिणम् ।। 49 ।।
देवान् यक्षगणान् सर्वान् भौमान् दिव्यान्तरीक्षकान्।
आर्यान् यक्षगणाध्यक्षान् सर्वांश्चैव सुरासुरान् ।। 50 ।।
कृत्वा धर्मफले युक्तान् निर्वाणानुगसत्रिवाम् ।
श्रेयसैव तदा योज्या बहुप्राणामचित्तकाम् ।। 51 ।।
असंख्या गणना तेषां संसारान्तादनन्तकात् ।
महासाहस्रलोकानां धात्वाध्यात्मचित्तकान् ।। 52 ।।
बहु सर्वं सदा सत्ये भूतार्थे संनियोज्य वै । (आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प, पृ० 453-454)

तैर्थिकों के बहुत से स्थानों को भी उस समय प्रमुदित (सन्तर्पित) किया।
अग्निभाण्ड नामक स्थान में शुभ देवावतरण किया।
त्रायस्त्रिंश (लोक) में भी शक्र को धर्मता में संयोजित किया और
उसी प्रकार अकनिष्ठादि में अकनिष्ठ देवगण तथा पुरन्दर सहित ब्रह्मा आदि को,
वैश्रवण, यक्षेन्द्र और चातुर्महाराजकायिक (देवताओं को),
मत्तकर और उपमाण, त्रिवीणा और मालाधारी को सदा,
समस्त देव और यक्षगणों को, भूमि और दिव्य अन्तरिक्षवासी,
आर्य और यक्षगणों के अध्यक्ष को, सभी सुर और असुरों को,
धर्म फल में युक्त कर तीन निर्वाणों का अनुगमन कराया।
बहुत से अचिन्त्य सत्त्वों को भी तब श्रेष्ठ (श्रेयस्) मार्ग में प्रवेश कराया।
उनकी गणना असंख्येय है, संसार के अन्त के समान अनन्त हैं।
महासाहस्रलोक धातु की तरह अचिन्त्य हैं। उन्हें सदा सत्य एवं भूतार्थ में नियोजित किया।''

इस प्रकार विविध बाह्य लक्षणात्मक धर्मचक्र का प्रवर्तन किया।

(ग) विशिष्ट क्रियातन्त्र का (धर्म)चक्र प्रवर्तन

वहीं (**मञ्जुश्रीमूल(कल्प)तन्त्र**[1] में) कहा है—

''उस समय मैं वहाँ आकर शुद्धावास के ऊपर स्थित हुआ,
तीनों यानों में प्रवृत्त कराने वाले सद्धर्म मन्त्र का प्रवर्तन कर,
पुनः विनेय सत्त्वों के आधार पर मैंने इस कल्पराजविधि को,
अनेक बार लोक में प्रकाशित किया और मञ्जुघोष को भी प्रदान किया''।

इस प्रकार तथागतकुल का प्रवर्तक (देशक) तथागत हैं और (उन्होंने) इसकी अकनिष्ठ और तुषित आदि लोकों में देशना दी है। पद्मकुल का अवलोकितेश्वर द्वारा पोतल आदि स्थानों में, वज्रकुल का वज्रपाणि द्वारा अलकावती आदि में, मणिकुल का मणिभद्र

---

1. इहाहमागतस्तत्र शुद्धावासोपरि स्थितः ॥53॥
प्रवर्त्य मन्त्रसद्धर्मत्रिधायानसमानुगम् ।
सत्त्वानां विनयमागम्य कल्पराजमिदं पुनः ।
प्रकाश्ये बहुधा लोके मञ्जुघोषस्य दत्तवान् ॥54॥ (म० मू० क०, पृ० 454)

और वैश्रवण ऋषि आदि द्वारा अलकावती में तथा पौष्टिक (पञ्चक) कुल का पाञ्चिक और हारीती (मेखला) द्वारा कपिल (नगर) आदि में देशना दी। लोककुल की देशना देशक के प्रति श्रद्धावान् भूतों के द्वारा विविध स्थानों में विद्यामन्त्र और विधि अर्पित करने पर, देशक ने अधिष्ठित कर की।

(घ) धर्मचक्र प्रवर्तन के पश्चात् परिनिर्वाण प्राप्ति

मञ्जुश्रीमूल(कल्प)तन्त्र[1] में कहा है—

"लोक (भुवन) में मेरा जब निर्वाण होगा,
हिमवन्त के मध्य में सालवन उद्भूत होगा।
मल्लों के नज़दीक हिरण्यवती नदी
यमकशालवन के मध्य मुझे निर्वाण प्राप्त होगा।"

(ङ) परिनिर्वाण के पश्चात् (धर्म) शासन का संगायन

मञ्जुश्रीमूल(कल्प)तन्त्र[2] में कहा है—

"शासन के (बुद्ध भाषित) सम्पूर्ण वचनों का सभी वीतरागी एवं महाऋद्धिवान् एकत्रित होकर संगायन करेंगे।"

इस प्रकार शास्ता परिनिर्वाण को प्राप्त हुए। अर्हतों के भी निर्वृत होने के बाद तीनों पिटक आकाश के धूम्र की भाँति अन्तर्धान हो जाएं तो शासन का नाश हो जायेगा। अतः धर्मों का संगायन करने का विचार कर मगध आदि पृथक्-पृथक् प्रदेशों के भिक्षु, अर्हत् आदि संगृहीत होकर त्रिपिटकों को अलग-अलग ग्रन्थों में संगृहीत कर सत्त्वार्थ करेंगे, (ऐसा) व्याकृत किया है। (यदि ऐसा हो) तो यह बाह्य लक्षण(यान) के समान होने से आनन्द द्वारा सूत्रपिटक का संगायन, उपालि द्वारा विनय और काश्यप द्वारा अभिधर्म का संगायन करना हो जायेगा। इस प्रकार सभी तन्त्रपिटक वज्रपाणि द्वारा संगायन किया है, इससे विरुद्ध हो जाता है। **सितोष्णीषपञ्जिका** (तो० 2689) में भी कहा है—"अलकावती के अधिपति दशभूमीश्वर ने अविच्छिन्न स्मृति समाधि द्वारा 'अशेष शब्द और अर्थ' ऐसा

---

1. निर्वाणं मे यदा भुवि ।
अभूत् सालवने मध्ये हिमवत्कुक्षिसंभवे ।।13।।
नद्यां हिरण्यवत्यायां मल्लानामुपवर्तने ।
यमकशालकवने मध्ये निर्वाणं मे भविष्यति ।।14।। (म० मू० क०, पृ० 452)

2. म० मू० क०, पृ० 465

कहा है"। इस कथन से विपरीत है, ऐसा कहे तो दोष नहीं लगेगा, क्योंकि क्रियातन्त्र सूत्रपिटक के अन्तर्गत आता है और आनन्द को वज्रपाणि कहा जाता है।

(च) संगृहीत धर्म (बुद्ध शासन) की स्थिति

जब तक शासन (बुद्ध धर्म) रहेगा, तब तक क्रियातन्त्र रहेगा। ऐसा कहा है कि सामान्य शासन की स्थिति भी मन्त्र के प्रभाव से है। **महाबल** (तो॰ 757) में—"इस सूत्रपिटक के पूर्णरूप से अस्त होने के समय तथागत शासन का भी अन्त होगा। इसलिए तथागत का निर्माणकाय" ऐसा कहा है।

चर्यातन्त्र की देशना

चर्यातन्त्र की देशना में भी छह विभाग हैं—

(क) आदि में बोधिचित्तोत्पाद।

(ख) मध्य में सम्भार सञ्चय।

(ग) अन्त में अभिसम्बोधि क्रम।

(घ) बुद्धत्व प्राप्ति के पश्चात् धर्मचक्र प्रवर्तन।

(ङ) प्रवर्तित शासन (धर्म) की संगीति।

(च) संगृहीत शासन (धर्म) की स्थिति।

(क) आदि में बोधिचित्तोत्पाद—(यह) सामान्य (चित्तोत्पाद) की भाँति ही है। अलग से स्पष्ट रूप से कहा गया हो, ऐसा नहीं मिलता है।

(ख) मध्य में सम्भार सञ्चय—वैरोचनाभिसम्बोधि[1] (तो॰ 494) में कहा है—"हेतु बोधिचित्त है, मूल महाकरुणा तथा पर्यवसान (पर्यन्त) उपाय है"।

सामान्यतः बुद्धत्व प्राप्त करने के लिए दो प्रवेश मार्ग हैं—लौकिक प्रवेश मार्ग और लोकोत्तर प्रवेश मार्ग। कल्याणमित्र का सेवन कर सम्यक् आगम और युक्ति का लौकिक मार्ग मुक्ति (निर्वाण) का मार्ग नहीं है, ऐसा जानकर लोकोत्तर मार्ग में प्रवेश के लिए प्रयास करना चाहिए। इसमें भी मृदु-इन्द्रिय वाले पुद्गल नैरात्म्य ज्ञान द्वारा और तीक्ष्णेन्द्रिय (सत्त्व) नैरात्म्य-द्वय (पुद्गल एवं धर्मनैरात्म्य) के ज्ञान से प्रवेश करते हैं।

---

1. तदेतत् सर्वज्ञज्ञानं करुणामूलं बोधिचित्तहेतुकम् उपायपर्यवसानम्। (उद्धृत-भावनाक्रम, द्वितीय संस्करण, पृ॰ 205)

मृदु-इन्द्रिय—लौकिक मार्ग का परित्याग कर केवल पुद्गल नैरात्म्य ज्ञान मार्ग में प्रविष्ट होकर राग चित्त से (लेकर) उत्पन्न (बोधि)चित्त पर्यन्त साठ (चित्त) को एक-एक में परिगणित करने, दो-दो में, तीन-तीन में, (चार-चार में), पाँच-पाँच में, छह-छह में, आठ-आठ में से साढ़े सात को सात गिनकर और दस-दस में गणना कर ये कुल एक सौ साठ होते हैं; इनके तीन कल्प व्यतीत होने पर लोकोत्तर चित्त पुद्गल नैरात्म्य ज्ञान उत्पन्न होता है। इससे (स्रोत)आपत्ति फल आदि आठ में से किसी को प्राप्त कर बाद में धर्मता के अधिगम द्वारा पुद्गल नैरात्म्य ज्ञान से एक कल्प में पार हो जाता है।

तीक्ष्णेन्द्रिय—प्रारम्भ से ही आत्मग्राह एवं स्कन्धग्राह आदि को हटाकर नैरात्म्यज्ञान में प्रविष्ट होता है। बाद में चित्त के स्वभाव को जानने के (इस) मार्ग द्वारा धर्म-नैरात्म्य को जानकर दो कल्पों में पार हो जाता है। इस प्रकार मृदु एवं तीक्ष्णेन्द्रिय दोनों मार्गों की व्याख्या मार्ग की सामान्य व्यवस्था जानने के लिए है। पूर्व में शास्ता तीक्ष्णेन्द्रिय मार्ग से गये ऐसा जानना चाहिये। इस प्रकार तीक्ष्ण और मृदु इन्द्रिय (वाले) दोनों ही नैरात्म्य-द्वय को जानकर तथता में प्रवेश, स्थिति और उत्थान चित्त का साक्षात्कार कर भावना करते हुए चार-संग्रह (वस्तु) और षट् पारमिताओं को पूर्वंगम कर सत्त्वों का अनुग्रह करने से दस भूमियों में प्रवेश और उनके निष्यन्द त्रिद्वार (काय-वाक्-चित्त विवेक) के गुणों को प्रत्यक्षतः प्राप्त नहीं करने पर भी श्रुत एवं चिन्तामयी प्रज्ञा द्वारा संवृति में जैसा प्रदर्शित है, वह तत्त्व सदृश है, ऐसी अधिमुक्ति, अधिमुक्तिचर्या नहीं, अपितु तत्त्व का आधार होने से अधिमुक्तिचर्या भूमि है। तथताधिगमचित्त, निर्विकल्पचित्त और महाकारुणिकचित्त इन तीनों चित्तों द्वारा छह पारमिता और चार संग्रह (वस्तुओं) का आचरण करते हुए दस ज्ञान भूमियों को निष्पन्न (परिपूर्ण) करने वाले धर्म में दस अधिमुक्ति युक्त (सहित) चित्त ही अधिमुक्ति चर्या भूमि है। यह एक कल्प में पार हो जाता है। वहीं (**वैरोचनाभिसम्बोधि** में) कहा है—

"अधिमुक्तिचर्या भूमि, तीन चित्तों द्वारा भावना की जाती है।
पारमिता और चार संग्रह (वस्तुओं) द्वारा चर्या,
अधिमुक्ति भूमि तो अतुलनीय, अप्रमेय और अचिन्त्य है।
अपरिमित ज्ञान की उत्पत्ति, दस चित्त द्वारा होती है।
मैंने जो भी थोड़ा-बहुत चर्या की, सभी इसी से प्राप्त किया।
इसीलिए सर्वज्ञ ने अधिमुक्तिचर्या कहा है।

बुद्धिमान् एक कल्प में ही भूमि (अधिमुक्तिचर्या भूमि) को सम्यक् रूप से उत्तीर्ण करेगा।''

इस अधिमुक्तिचर्या भूमि के अन्त में पुनः अधिमुक्तिचर्या भूमि के फलरूपी गुणों से युक्त ज्ञान(भूमि) प्रमुदिता में प्रवेश करने वाले (एक) कल्प के चौथाई भाग पर्यन्त अभ्यास से अधिमुक्तिचर्या भूमि को पार कर ज्ञानभूमि में प्रवेश करते हैं। जैसा कि **वैरोचनाभि-सम्बोधि** (तो० 494) में कहा है—

''इस भूमि के चतुर्थांश से अधिमुक्ति से पार हो जाता है''।

इसके पश्चात् दोनों नैरात्म्य का अधिगम होने से तथता में प्रवेश, स्थिति और उत्थान का साक्षात्कार करता है। अतः पारमिताओं के अभ्यास के लिए अपरिमित कल्पों तक संभारद्वय के साधन में तत्पर होने से सर्वधर्मों की तथता के आलम्बन से माया सदृश अधिगम का भी प्रतिपक्ष भूत प्रथम भूमि का ज्ञान आदि(प्रथम) बोधिचित्त उत्पन्न होता है। इस प्रकार ज्ञानभूमि में स्थित होकर यथाभूत अभ्यास करते हुए साधना में प्रविष्ट पुद्गल को बोधिसत्त्व कहा जाता है। वहीं (**वैरोचनाभिसम्बोधि** में) कहा है—

''बोधि आकाश लक्षण है, जो सभी विकल्पों से रहित है;
जो उसे जानने की इच्छा रखता है, वह बोधिसत्त्व कहलाता है।''

इसके पश्चात् महावीर समाधि द्वारा चारों मारों के नाश होने तक दो सम्भारों को परिपूर्ण करता है। जैसा कि **वैरोचनाभिसम्बोधिटीका** (तो० 2663) में कहा है—

''इस प्रकार पूर्वोक्त आठ प्रकार के लौकिक चित्त से लेकर सम्बोधि की अवस्था महावीर आदि तक पुण्यसम्भार एवं ज्ञानसम्भार स्वभाव वाला है, जो भगवान् वैरोचन की सिद्धि का कारण है।''

(ग) अन्त में अभिसम्बोधि क्रम—इस प्रकार महावीर सम्बोधि समाधि द्वारा मार को भग्न कर तीनों धातुओं (लोक) से पार हो अकनिष्ठ (भुवन) में उत्पन्न होकर महाबोधि के साक्षात्कार के विचार से योगतन्त्रानुसार पाँच अभिसम्बोधियों द्वारा बुद्धत्व प्राप्त करता है। वहीं (**वैरोचनाभिसम्बोधि** में) कहा है—

''बोधि मण्ड में स्थित होकर विकल्पों के समस्त शत्रुसमूहों से रहित ज्ञान का आलोक,

समस्त प्रपञ्चों के वासना का आधार (आश्रय) से रहित,
अनुत्तर सम्यक्सम्बोधि के लक्षणों का साक्षात्कार करें।
उसका साक्षात्कार कर लेने पर पूर्व प्रणिधान के बल से काय-वाक्-चित्त वज्र में न्यस्त चित्त,
यथाकल्पानुरूप सम्यक् रूप से सन्तोष कर एकाकी पारंगतता को प्राप्त करता है, इस प्रकार विचार करता है, इस प्रकार विचार करके, यथा विचरित साधना में तत्पर रहने से चारों कायों की परिपूर्णता होती है।''

(घ) बुद्धत्व प्राप्ति के पश्चात् धर्मचक्र प्रवर्तन—उसी अकनिष्ठ (भूमि) में वैरोचन मूर्ति (तथागत) ने सामान्यतः महायान, विशेषकर चर्यातन्त्र का वैरोचनाभिसम्बोधि (तो० 494), वज्रपाण्यभिषेकमूलतन्त्र और अचलवीरविनयकल्प (तो० 495) आदि की देशना दी। परनिर्मितवशवर्ती (लोक) और सुमेरुशिखर आदि में गुह्यतन्त्र की देशना दी। गृध्रकूट पर्वत आदि में शाक्यमुनि आदि ने (निर्माणकाय द्वारा) विविध यानों की धर्मदेशना देकर श्रीगुणाकर नगर में वज्रपाण्यभिषेकतन्त्र (तो० 496) की देशना दी।

(ङ) प्रवर्तित धर्म का संगायन—वज्रपाण्यभिषेकतन्त्र में कहा है कि 'शासन वज्रपाणि को सौंपा है' और **वैरोचनाभिसम्बोधिटीका** में भी 'वज्रपाणि ने धर्मों का संगायन किया', ऐसा बतलाया गया है।

(च) संगृहीत शासन की स्थिति—मनुष्यलोक में भी जब तक सामान्य (बुद्ध) शासन की स्थिति रहेगी, तब तक अकनिष्ठ(लोक) में चर्यातन्त्र अविच्छिन्न रूप से सदा स्थित रहेगा, ऐसा कहा गया है।

योगतन्त्र की देशना

वज्रशेखरतन्त्र (तो० 480) में कहा है—

''पूर्व अतीतकाल में, बोधिचित्त परिगृहीत करते हुए,
प्रज्ञा एवं उपाय से युक्त, बोधिसत्त्व होने पर,
अद्भुत एवं महान् उत्साह (से), अपरिमित दुष्कर चर्या की।
उससे क्रमशः अभिषेक सुलब्ध हुआ।
भूमि में पारंगत होकर महाप्राज्ञ द्वारा पटाभिषेक प्राप्त कर,
रमणीक अकनिष्ठ लोक में महामति के रूप में प्रतिष्ठित हुआ।

मैं श्रेष्ठ बुद्ध हो गया हूँ, इस प्रकार योगी द्वारा चिन्तन कर,
कृत्यों में पारंगत हो, मैं सत्त्वार्थ (बुद्धत्व) प्राप्त करूँगा।
उन कृत्यों पर चिन्तन कर, पूर्व और पर में महासुख रहित,
महा अद्भुत धर्मानन्द की सुखानुभूति को प्राप्त करूँगा।
इस विचार से बोधिवृक्ष के मूल में बैठकर,
सभी दुष्कर कार्यों से युक्त, आश्वास और निश्वास को निरुद्ध कर,
निश्चेतन एवं निश्चल होकर, शरीर को किञ्चित् मात्र भी न हिलाकर,
अंगों को क्षुभित न कर,
अचल धर्म में दीर्घ काल तक स्थित रहूँगा।''

इसका तात्पर्य है—

(क) आदि में श्रेष्ठ बोधिचित्त का उत्पाद।
(ख) मध्य में सम्भार सञ्चय।
(ग) अन्त में अभिसम्बोधि की प्राप्ति।
(घ) बुद्धत्व प्राप्ति के पश्चात् धर्मचक्र प्रवर्तन।
(ङ) प्रवर्तित शासन (धर्म) का संगायन।
(च) संगृहीत शासन की स्थिति।

(क) आदि में श्रेष्ठ बोधिचित्त का उत्पाद—पूर्व बुद्धों के समक्ष शून्यता एवं करुणा का सार बोधिचित्त को ग्रहण करता है।

(ख) मध्य में सम्भार सञ्चय—तीन असंख्येय कल्पों में विविध जन्मों को ग्रहण कर, पुण्य एवं ज्ञान सम्भारों को परिपूर्ण कर; ध्यान एवं अरूप समापत्तियों को उत्पन्न कर चतुर्थ ध्यानभूमि की उच्चतर भूमि को उत्पन्न कर समाधिबल से मनोमय काय स्वरूप चरमभविक सर्वार्थसिद्धि बोधिसत्त्व उत्पन्न होता है।

(ग) अन्त में अभिसम्बोधि की प्राप्ति—आचार्य शाक्यमित्र का मानना है कि शुद्धोदन के पुत्र सिद्धार्थ ने नैरञ्जना नदी के तट पर तपस्या करते समय विपाक शरीर को वहीं छोड़कर मनोमय काय द्वारा अकनिष्ठ में अभिसम्बोधि द्वारा बुद्धत्व प्राप्त किया। (फिर) सुमेरु पर्वत पर योगतन्त्र की देशना देकर पुनः विपाक काय में प्रवेश किया। उसके बाद वज्रासन (बोध गया) में बुद्धत्व प्राप्त करने की लीला प्रदर्शित की। आनन्दगर्भ के

अनुसार भगवान् असंख्येय कल्पों में अभिसम्बोधि द्वारा बुद्धत्व प्राप्त कर (चुके हैं और) शाक्य कुल में जन्म की लीला प्रदर्शित की है। अतः शाक्य कुल में उत्पन्न होना यह मत उपर्युक्त से संगत नहीं है। इस प्रकार यह मत खण्डित होता है। प्रथमतः अकनिष्ठ में बुद्धत्व प्राप्त कर निर्माण(काय द्वारा) देशना आदि करके पुनः तुषित में निवास आदि बारह लीलाओं सहित बुद्धत्व प्राप्ति का क्रम दिखलाया। अतः अकनिष्ठ में बोधिचित्त से सिद्धार्थ (रूप) में उत्पन्न होकर सर्वतथागतों का पट्टाभिषेक प्राप्त कर समस्त सत्त्वों के हितार्थ बुद्धत्व प्राप्त करूँगा, ऐसा विचार कर अचल समाधि में समाहित होकर, बुद्धों द्वारा उससे (समाधि से) जगाकर पाँच अभिसम्बोधियों द्वारा बुद्धत्व प्राप्त किया। **सर्वतथागत-तत्त्वसंग्रह**[1] (तो० 479) में कहा है—

---

1. अथ सर्वतथागतैरिदं बुद्धक्षेत्रं तद्यथा तिलबिम्बमिव परिपूर्णम्।

अथ खलु सर्वतथागता महासमाजमापद्य, येन सर्वार्थसिद्धिर्बोधिसत्त्वो महासत्त्वः बोधिमण्ड-निषण्णस्तेनोपजग्मुः। उपेत्य बोधिसत्त्वस्य सांभोगिकैः कायैर्दर्शनन्दत्त्वैवमाहुः—"कथं कुलपुत्रानुत्तरां सम्यक्सम्बोधिम् अभिसम्भोत्स्यसे, यस्त्वं सर्वतथागततत्त्वानभिज्ञतया सर्वदुःकराण्युत्सहसी"ति।

अथ सर्वार्थसिद्धिर्बोधिसत्त्वो महासत्त्वस्सर्वतथागतचोदितः समानस्तत आस्फानसमाधितो व्युत्थाय, सर्वतथागतान् प्रणिपत्याहूयैवमाह—"भगवन्तस्तथागता आज्ञापयत कथं प्रतिपद्यामि कीदृशं तत् तत्त्वम्" इति। एवमुक्ते सर्वतथागतास्तं बोधिसत्त्वमेककण्ठेनैवमाहुः—"प्रतिपद्यस्व कुलपुत्र स्वचित्तप्रत्य-वेक्षणसमाधानेन प्रकृतिसिद्धेन रुचिजप्तेन मन्त्रेण" इति, **ॐ चित्तप्रतिवेधं करोमि**।

अथ बोधिसत्त्वः सर्वतथागतानेवमाह—"आज्ञातं मे भगवन्तस्तथागताः स्वहृदि चन्द्रमण्डलाकारं पश्यामि।" सर्वतथागताः प्रोचुः—"प्रकृतिप्रभास्वरमिदं कुलपुत्र चित्तं, तद्यथा परिकर्ष्यते तत् तथैव भवति। तद्यथापि नाम श्वेतवस्त्रे रागरञ्जनम्" इति।

अथ सर्वतथागताः प्रकृतिप्रभास्वरचित्तज्ञानस्य स्फीतीकरणहेतोः पुनरपि तस्मै बोधिसत्त्वाय **ॐ बोधिचित्तमुत्पादयामि** इत्यनेन प्रकृतिसिद्धेन मन्त्रेण बोधिचित्तमुत्पादितवन्तः।

अथ बोधिसत्त्वः पुनरपि सर्वतथागताज्ञया बोधिचित्तमुत्पाद्यैवमाह—"यत् तच्चन्द्रमण्डलाकारं तच्चन्द्रमण्डलमेव पश्यामि"। सर्वतथागता आहुः—"सर्वतथागतहृदयन्ते समन्तभद्रश्चित्तोत्पादः सामीची-भूतः, तत्साधु प्रतिपद्यताम्, सर्वतथागतसमन्तभद्रचित्तोत्पादस्य दृढीकरणहेतोः स्वहृदि चन्द्रमण्डले वज्रबिम्बं चिन्तयानेन मन्त्रेण **ॐ तिष्ठ वज्र** ।

बोधिसत्त्व आह—"पश्यामि भगवन्तस्तथागताश्चन्द्रमण्डले वज्रम्"। सर्वतथागता आहुः—"दृढी-कुर्विदं सर्वतथागतसमन्तभद्रचित्तवज्रमनेन मन्त्रेण **ॐ वज्रात्मकोऽहम्**॥

अथ यावन्तः सर्वाकाशधातुसमवसरणाः सर्वतथागतकायवाक्चित्तवज्रधातवः, ते सर्वे सर्वतथागता-धिष्ठानेन तस्मिन् सत्त्ववज्रे प्रविष्टाः। ततः सर्वतथागतैः स भगवान् सर्वार्थसिद्धिर्महाबोधिसत्त्वो वज्रधातुर्वज्रधातुरिति वज्रनामाभिषेकेणाभिषिक्तः।।

"तत्पश्चात् सर्वतथागतों ने इस बुद्धक्षेत्र को तिलबिम्ब की तरह परिपूर्ण किया। उसके बाद सर्वतथागत एकत्रित होकर जहाँ सर्वार्थसिद्धि बोधिसत्त्व महासत्त्व बोधिमण्ड में विराजमान थे, वहाँ गये। वहाँ बोधिसत्त्व के समीप पहुँचकर सम्भोगकाय से दर्शन देकर ऐसा कहा—कुलपुत्र! कैसे अनुत्तर सम्यक्सम्बोधि को जानोगे, जबकि तुम सर्वतथागत तत्त्व को न जानकर सभी दुष्कर कार्यों में उत्साहित हो रहे हो।

उसके पश्चात् सर्वतथागतों द्वारा प्रेरित करने से सर्वार्थसिद्धि बोधिसत्त्व महासत्त्व उस आस्फानक समाधि से उठकर, सभी तथागतों को प्रणाम कर ऐसा कहा—भगवन् तथागतो वह तत्त्व कैसा है, किस प्रकार सिद्ध करूँ? बतलाइये। ऐसा कहते ही सभी तथागतों ने एक कण्ठ से ऐसा कहा—कुलपुत्र! स्वचित्त प्रत्यवेक्षण समाधि में स्थित होकर इस प्रकृतिसिद्ध 'ॐ चित्तप्रतिवेधं करोमि' मन्त्र से इच्छानुसार जाप कर सिद्ध करें।

उसके पश्चात् बोधिसत्त्व सर्वार्थसिद्धि ने सर्वतथागतों से इस प्रकार कहा—भगवन् तथागतो मैंने अपने हृदय में चन्द्रमण्डल की तरह स्थित को देखा, जाना। तत्पश्चात् सभी तथागतों ने कहा—कुलपुत्र! यह चित्त प्रकृति प्रभास्वर है, इसका जैसा परिष्कार करोगे, वैसा ही हो जाता है, जैसे श्वेत वस्त्र को रंग से रंगने पर।

उसके बाद सभी तथागत प्रकृति प्रभास्वरचित्त ज्ञान का विस्तार करने के लिए 'ॐ बोधिचित्तमुत्पादयामि' इस प्रकृतिसिद्ध मन्त्र से पुनः उस महाबोधिसत्त्व के लिए बोधिचित्त उत्पन्न करते हैं।

उसके बाद पुनः बोधिसत्त्व ने सर्वतथागतों की आज्ञा से बोधिचित्त उत्पन्न कर इस प्रकार कहा—यह जो चन्द्रमण्डलाकार है, उसे चन्द्रमण्डल जैसा ही देखता हूँ। सर्वतथागतों ने कहा—सर्वतथागतों के हृदय समन्तभद्र चित्त का तुमने प्रत्यक्ष किया है।

अथ वज्रधातुर्महाबोधिसत्त्वस्तान् सर्वतथागतानेवमाह "पश्यामि भगवन्तस्तथागताः सर्वतथागतकायमात्मानम्"। सर्वतथागताः प्राहुः—"तेन हि महासत्त्व सत्त्ववज्रं सर्वाकारवरोपेतं बुद्धबिम्बमात्मानं भावयानेन प्रकृतिसिद्धेन मन्त्रेण रुचितः परिजप्य **ॐ यथा सर्वतथागतास्तथाऽहम्**"।।

अथैवमुक्ते वज्रधातुर्महाबोधिसत्त्वस्तथागतमात्मानमभिसम्बुध्य, तान् सर्वतथागतान् प्रणिपत्याहूयैवमाह "अधितिष्ठत मां भगवन्तस्तथागता इमामभिसम्बोधिं दृढीकुरुत चेति"। अथैवमुक्ते सर्वतथागता वज्रधातोस्तथागतस्य तस्मिन् सत्त्ववज्रे प्रविष्टा इति।।

अथ भगवान् वज्रधातुस्तथागतस्तस्मिन् एव क्षणे सर्वतथागतसमताज्ञानाभिसम्बुद्धः सर्वतथागतवज्रसमताज्ञानमुद्रागुह्यसमयप्रविष्टः सर्वतथागतधर्मसमताज्ञानाधिगमस्वभावशुद्धः सर्वतथागतसर्वसमताप्रकृतिप्रभास्वरज्ञानाकरभूतस्तथागतोऽर्हन् सम्यक्सम्बुद्धः संवृत्त इति।। (सर्वतथागततत्त्वसंग्रह, पृ० 4-5)

अत: उसे अच्छी तरह सिद्ध करें। उत्पन्न सर्वतथागतों के समन्तभद्र चित्त को दृढ करने के लिए 'ॐ तिष्ठ वज्र' इस मन्त्र से स्वहृदय के चन्द्रमण्डल में वज्रबिम्ब का चिन्तन करें।

बोधिसत्त्व ने कहा—भगवन् तथागतो चन्द्रमण्डल के ऊपर वज्र को मैं देख रहा हूँ। सभी तथागतों ने कहा—इस सर्वतथागत समन्तभद्र चित्तवज्र को 'ॐ वज्रात्मकोऽहम्' इस मन्त्र से दृढ़ करें।

इसके पश्चात् सभी आकाश धातु में जितने भी तथागतों के काय-वाक्-चित्त वज्रधातु हैं, वे सभी सर्वतथागतों के अधिष्ठान से उस सत्त्ववज्र में प्रविष्ट हुए। उसके पश्चात् सर्वतथागतों ने उस भगवान् सर्वार्थसिद्धि महाबोधिसत्त्व को वज्रधातु! वज्रधातु! इस वज्रनामाभिषेक द्वारा अभिषिक्त किया।

इसके बाद वज्रधातु महाबोधिसत्त्व ने उन सर्वतथागतों से ऐसा कहा—भगवन् तथागतो! सर्वतथागतों के काय को अपने में देखता हूँ। सभी तथागतों ने कहा—इसलिए महासत्त्व वज्रसत्त्व सभी आकारों से युक्त बुद्ध बिम्ब को अपने में चिन्तन कर 'ॐ यथा सर्वतथागतास्तथाऽहम्' इस प्रकृतिसिद्ध मन्त्र से इच्छानुसार जाप करें।

ऐसा कहने के पश्चात् वज्रधातु महाबोधिसत्त्व ने तथागतात्मक अभिसम्बोधि प्राप्त करके सभी तथागतों को आहूत कर, प्रणाम कर ऐसा कहा—भगवान् तथागतो! मुझे अधिष्ठित करें, इस अभिसम्बोधि को दृढ़ करें। ऐसा कहने के पश्चात् सर्वतथागतों ने वज्रधातु तथागत के सत्त्ववज्र में प्रवेश किया।

उसके पश्चात् भगवान् वज्रधातु तथागत ने उसी क्षण सर्वतथागत-समताज्ञान का अभिसम्बोध किया। सर्व-तथागतवज्र-समताज्ञान मुद्रा गुह्य समय में प्रविष्ट हुआ। सर्व-तथागतों के धर्म-समताज्ञान के अधिगम से स्वभाव शुद्ध हुआ। सभी तथागतों की समता प्रकृति प्रभास्वर ज्ञान के आकरभूत तथागत अर्हत् सम्यक्सम्बुद्ध से संवृत (प्राप्त) हुई।"

(घ) बुद्धत्व प्राप्ति के पश्चात् धर्मचक्र प्रर्वतन—उसके पश्चात् सभी तथागतों से अभिषेक, धर्मप्रवचन और अनुज्ञा प्राप्त कर निर्माणकाय वाले वैरोचन सुमेरु शिखर पर चले गये। (फिर वहाँ) चार खण्डों में मूलतन्त्र, उत्तरतन्त्र, उत्तरोत्तरतन्त्र, दस कल्प संग्रह व्याख्यातन्त्र और त्रिलोकविजयतन्त्र के पूर्वापर आदि की देशना दी। परनिर्मितवशवर्ती (लोक) में श्रीपरमाद्य और नन्दवन में शोधनतन्त्र (सर्वदुर्गतिपरिशोधन-तन्त्र) आदि की देशना कर निर्माणकाय में संहृत होकर अकनिष्ठ में वैरोचन काय में विलीन हुए। पुनः

तुषित में स्थिति आदि से लेकर मानुषी रूप में बारह लीलाओं द्वारा बुद्धत्व प्राप्ति दिखला कर विभिन्न यानों का धर्मचक्र प्रवर्तन किया।

(ङ) प्रवर्तित शासन (धर्म) का संगायन—(संगीति) काल—अकनिष्ठ में भगवान् वैरोचन द्वारा तत्त्वसंग्रहतन्त्र आदि की देशना करने के बाद। स्थान—अलकावती के राजप्रासाद में, संगीतिकार—दशभूमीश्वर वज्रधर, श्रावक परिषद्—तिल से परिपूर्ण जम्बूद्वीप की तरह सर्वत्र (व्याप्त) वीर सर्वतथागत। अध्येषक परिषद्—समन्तभद्र आदि महाबोधिसत्त्व, (इनके) द्वारा अध्येषणा किये जाने पर अपने को प्रामाणिक पुरुष सिद्ध करने के लिए और जो भी श्रवण किया, उन्हें शुद्ध करने के लिए पूर्व में जैसा सुना उसके अर्थ को मन में रखकर समय, स्थान, शास्ता और परिषद् इनके संयोग के समय इस सुसम्पन्न धर्म को सुना। इसे दर्शाने के लिए 'ऐसा मैंने सुना' (एवं मया श्रुतम्) इत्यादि से 'अनुमोदन करते हैं' (अभ्यनन्दन्निति) तक कहा गया है। इसका समन्तभद्र आदि महाबोधिसत्त्वों ने अनुमोदित तथा अभ्यनन्दन किया, ऐसा **तत्त्वालोक टीका** (तो० 2510) में (भी) कहा है।

(च) संगृहीत शासन (धर्म) की स्थिति—मनुष्य लोक में सामान्य शासन (बौद्ध धर्म) की स्थिति पर्यन्त अकनिष्ठ (भूमि) में योगतन्त्र अविच्छिन्न रूप से सदा स्थित रहेगा, कहा गया है।



वज्रयान की भूमि एवं मार्ग व्यवस्था (1)

—छोग दोर्जे—

[सेरतोग लोज़ङ् छुलठिम ग्यात्सो (1845-1914 ई०) गेलुग सम्प्रदाय के महान् साधकों एवं विचारकों में एक हैं। इन्होंने व्याकरण, काव्य, ज्योतिष, दर्शन आदि से लेकर तन्त्रशास्त्र तक अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है। उनके द्वारा रचित ग्रन्थ "तन्त्र की भूमि एवं मार्ग-व्यवस्था" में बहुत सुन्दर, संक्षेप में सरल एवं स्पष्ट ढंग से तन्त्र की व्याख्या की है। इनकी विशेषता यह है कि परवर्ती विद्वान् होने के कारण इन्होंने पूर्व के विद्वानों के मतों को जहाँ बड़े सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है, वहीं अपना विवेचन एवं निष्कर्ष भी निकाला है। यद्यपि यह ग्रन्थ तन्त्र की चारों शाखाओं पर प्रकाश डालता है, लेकिन अनुत्तरतन्त्र के अभिषेक, मण्डल विधि, उत्पत्तिक्रम एवं निष्पन्नक्रम आदि पर इसमें विस्तार से व्याख्या की है, जो निश्चित ही तन्त्र के पाठकों को अच्छा प्रामाणिक ज्ञान दे सकेगा। इसी को विचार में रखकर इस ग्रन्थ का क्रमश: हिन्दी में अनुवाद दिया जा रहा है।]

अभिन्न गुरु एवं वज्रधर के चरणों में सादर प्रणाम करता हूँ।

शिष्यों में शक्तिपरिपाक के लिए चार प्रकार के अभिषेक को प्रदान करने वाले, मूल एवं व्याख्यातन्त्र के व्याख्याता, परिपाक एवं विमुक्ति अधिष्ठान के गम्भीर मर्म (रूपी) उपदेश के अर्थों को स्पष्ट करने वाले, त्रिशिक्षा एवं त्रिसंवर से युक्त मूलगुरु (परमगुरु) हृदय में विराजमान हों।

नाथ! तुम्हारे कायिक, वाचिक एवं मानसिक तीन (प्रकार के) गुह्य लीला, सागर सदृश मण्डल के स्फरण एवं संहरणकर्ता, नाना कृत्य के रूपों में प्रकट अर्थात् परम अधिदेव, चक्रसंवर, गुह्यसमाज एवं वज्रभैरव इन तीनों की जय हो।

सूर्य-चन्द्र रूपी हिमवंत (भोट) के पण्डित भी पूर्ण रूप से स्पष्ट करने में असमर्थ हैं, जैसे बकुल पुष्प तरुणी की मुख मदिरा से ही विकसित एवं प्रफुल्लित होता है, ऐसे ही (गुह्य अनुत्तर क्रमद्वय को स्पष्ट करने वाले) गुरु मञ्जुघोष के चरणों को शिर से नमन करता हूँ।

चौबीस पीठों में नाना प्रकार के निर्माण (कायों) के रूप में विराज कर साधकों के सामर्थ्य के अनुसार, बाह्य, आभ्यन्तर और गुह्य (रूप से) परम सेवा करने वाली माता एवं डाकिनीगण भी सिद्धि प्रदान करें।

जो प्राणिमात्र के लिये संसार और निर्वाण के सुख में वीतराग होकर, प्रहाण एवं ज्ञान गुणों से परिपूर्ण होकर, शीघ्र एक ही क्षण में (प्राप्तव्य) भूमि की ओर गमन की प्रबल इच्छा वाले पुरुषों का अनुत्तर तन्त्र ही प्रवेश तट (स्थल) है। सभी यानों में श्रेष्ठ गुह्यमन्त्र (यान) के भूमि एवं मार्गक्रमों के समस्त मर्मों को सार रूप में संगृहीत कर तथा गुरु के वचनों पर आश्रित होकर, मैं (उसे) संक्षेप में कहूँगा।

यह (वज्रयान) तीनों लोकों के सम्पूर्ण प्राणियों के भव (संसार) के (अत्यन्त) बलवान् मूल (कारण) को नष्ट करने वाला, प्रदीप सदृश अनेक कल्पों तक महान् उदार और दुष्कर चर्या पर आश्रित न होकर उपायकौशल्य चर्या द्वारा एक ही जन्म में या कलियुग के इस अल्पायु में ही दो अर्थों (स्वार्थ एवं परार्थ) को परिपूर्ण करने वाला त्वरित पथ, चौरासी हजार धर्मस्कन्धों के सभी अभिधेय अर्थों के सार में से परम अतिशय एवं प्रधान, महागुह्य वज्रयान की भूमि एवं मार्ग के क्रम का यहाँ उल्लेख किया जायेगा। इसमें दो भाग हैं—1. सामान्य यान की व्यवस्था और 2. महायान की व्यवस्था।

सामान्य यान की व्यवस्था

नयत्रयप्रदीप (तो० 3707) में कहा है—"सत्य अर्थात् तथता का प्रतिपादन, पारमितानय का जो अर्थ हो एवं महामन्त्रनय का भी जो अर्थ हो (उन्हें) यहाँ पर संगृहीत कर प्रतिपादित किया गया है"। इस प्रकार विनेयजनों की तीन अधिमुक्तियों को ध्यान में रखकर तीन प्रकार के यान की व्यवस्था हुई है। जैसे हीन अधिमुक्ति वालों के लिए वीतराग चर्या, उदार अधिमुक्ति वालों के लिये भूमि एवं पारमिता चर्या एवं विशिष्ट गम्भीर अधिमुक्ति रखने वालों के लिए सराग चर्या का प्रतिपादन किया गया है। सूत्रालङ्कार में कहा है—"पिटक तीन हों या दो हों[1] "। उपर्युक्त तीनों यानों को कुलों में संगृहीत करें तो प्रथम हीनयान में तथा शेष दोनों महायान में संगृहीत होते हैं। इस प्रकार के दो यानों में विभक्त करने का कारण यह है कि लघु (हीन) उद्देश्य वाला सत्त्व, मात्र अपने लघु प्राप्तव्य अर्थात् सांसारिक दुःखों की शान्ति का पद प्राप्त करने की इच्छा रखता है तथा उत्तम उद्देश्य वाला सत्त्व, प्राणियों के लिए प्राप्तव्य श्रेष्ठ बुद्धत्व पद की इच्छा रखता है। इस प्रकार हीन एवं उत्तम (आशय) वाले दो प्रकार के विनेयजन हैं। ये दोनों जिस यान से अपने-अपने प्राप्तव्य पद की ओर ले जाते हैं, उस यान को हीनयान एवं उत्तमयान अथवा

---

1. पिटकत्रयं द्वयं वा (11.1) ।

महायान कहा गया है। इन दोनों यानों को अधिकृत कर उपदिष्ट धर्मों को उत्तमयानी एवं हीनयानी पिटक कहा गया है। वास्तव में महायान और हीनयान में सिद्धान्ततः कोई दृष्टि-भेद नहीं है यह भेद चर्या के आधार पर किया गया है। जैसा कि रत्नावली में कहा है—

न बोधिसत्त्वप्रणिधिर्न चर्यापरिणामना ।
उक्ताः श्रावकयानेऽस्मद्बोधिसत्त्वः कुतस्ततः ।। (4.90)

अर्थात् उस श्रावकयान में बोधिसत्त्व का प्रणिधान, चर्या एवं परिणामना नहीं कहा है। अतः (वह) कैसे बोधिसत्त्व होगा ? इस प्रकार उपायकौशल्य चर्या, पारमिता, प्रणिधान, महाकरुणा, परिणामना और दो सम्भार (पुण्य एवं ज्ञान) तथा जिनपुत्र (बोधिसत्त्व) के महान् उदार एवं अतिशय चर्या के होने एवं न होने के (आधार) पर श्रावकयान और महायान नामक भेद किया गया है।

महायान की व्यवस्था

यह दो भागों में विभक्त है, प्रथम महायान का भेद तथा दूसरा वज्रयान में प्रवेश भेद की विशिष्ट व्याख्या। पुनः प्रथम में तीन भाग हैं—(क) भेदों की संख्या, (ख) प्रत्येक भेद का भावार्थ और (ग) भेद के कारण।

(क) भेदों की संख्या

महायान में हेतु (पारमितायान) और फल (वज्रयान) दो प्रकार के भेदों की व्यवस्था विद्यमान है। श्रद्धाकरवर्मा ने कहा है—"बोधिसत्त्वयान के भी दो भेद हैं (हेतु) भूमि अर्थात् पारमितायान तथा (फल) मन्त्र वज्रयान"। यहाँ पुनः प्रत्येक को जिसके द्वारा ले जाया जाता है वह हेतुयान तथा जहाँ पर ले जाना होता है वह फलयान के भेद से पुनः दो प्रकार का हो जाता है। गुह्ययान, मन्त्रयान, फलयान, वज्रयान ये सब नाम पर्याय हैं।

(ख) प्रत्येक भेद का भावार्थ

वज्रयान को गुह्ययान इसलिए कहा जाता है, क्योंकि इसे अपात्रों (अयोग्य लोगों) का विषय नहीं होने से उन्हें न बतलाकर उनसे गुह्य रखकर सिद्ध किया जाता है। मन्त्र को गुह्य कहा गया है, उसका तात्पर्य यह है कि गुह्ययान में कोई ऐसा दोष नहीं है (जिसे गुह्य रखा जाय) वस्तुतः इसे मात्र मन्द बुद्धि एवं हीनयानियों से गुह्य रखने के लिए कहा है।

पुनः इसे मन्त्रयान इसलिए कहा जाता है, क्योंकि यह मन की सामान्य आभास एवं अभिनिवेश से रक्षा करता है। समाजोत्तरतन्त्र में कहा गया है—

प्रतीत्योत्पद्यते यद्यदिन्द्रियैर्विषयैर्मनः ।
तन्मनो मननं ख्यातं त्रकारस्त्राणनार्थतः ।। (गु० स० 18)

अर्थात् "इन्द्रिय एवं विषयों के कारण जो-जो मन उत्पन्न होता है, उस चित्त को मन कहा है, त्रकार त्राण वाचक है"। वहीं इसे (वज्रयान को) फलयान इसलिये कहा जाता है, क्योंकि इसमें फलावस्था में जो हम प्राप्त करते हैं, जैसे—बुद्धभूमि का स्थान, काय, आभोग एवं चार कृत्य परिशुद्धियाँ हैं, तदनुकूल मार्ग में देव, विमान, देवचक्र, पूजा सामग्री तथा सत्त्व एवं भाजन शोधन आदि, उन सब कर्मों की मार्गीकरण के माध्यम से भावना की जाती है।

अनुत्तरतन्त्रार्थावतार में कहा है—"यह मार्ग में ही काय, सम्भोग, स्थान और कृत्य परिशुद्धि के रूप में प्रवेश होने के कारण फलयान कहा जाता है।" इसे वज्रयान इसलिए कहा जाता है, क्योंकि यह प्रज्ञा एवं उपाय के अभेद्य वज्रसत्त्वयोग से युक्त है।

कुसुमाञ्जलि (तो० 1851) में कहा है—"वज्रयान तो अशेष (सम्पूर्ण) महायान का (संग्रह) सार है और वह षट्पारमितानय है। इसका सार प्रज्ञा एवं उपाय है। इन सबका भी सार एकरस बोधिचित्त है। क्योंकि वह वज्रसत्त्व समाधि है, अतः वही वज्र है। वज्र भी वही और यान भी (वही) होने से वज्रयान है अर्थात् मन्त्रयान है। इसका यही अर्थ अभिप्रेत है"। इसे उपाययान इसलिये कहा जाता है, क्योंकि (यह) पारमिता से अधिक विशिष्ट उपायकौशल्य से युक्त है।

(ग) भेद के कारण

यहाँ यह जान लेना जरूरी है कि फल की प्राप्ति में मन्त्रनय और पारमितानय में उत्तम एवं हीन का अन्तर दो यान के भेद से नहीं है, क्योंकि सभी दोषों से निर्मुक्त और सर्वगुण सम्पन्न प्राप्तव्य बुद्धत्व आदि दोनों यानों में एक समान है। यह अन्तर उनके द्वारा ले जाने वाले मार्ग एवं हेतु में अन्तर होने से है। वहीं पुनः आशय बोधिचित्त, चर्या षट्पारमिता एवं शून्यता अवबोधक दृष्टि में अन्तर नहीं है। अतः इन तथ्यों के आधार पर विभाजन नहीं किया जा सकता, अपितु यह विभाजन विशेष उपाय के द्वारा किया गया है। क्योंकि दोनों यानों का मुख्य उद्देश्य धर्मकाय एवं रूपकाय की प्राप्ति से है। इनमें विनेयजनों

को साक्षात् दर्शन देकर उनके अर्थों को सिद्ध करने वाला बुद्ध धर्मकाय नहीं है, अपितु दो प्रकार के रूपकाय होते हैं। इसलिए महायान मार्ग की प्रमुख विशेषता रूपकाय है (जो) भव्य विनेयजनों में आभासित होकर यावत् संसार की स्थिति पर्यन्त प्राणियों के नाथ एवं त्राणकर्ता के रूप में विद्यमान रहता है उसकी प्राप्ति के उपाय से भेद करना चाहिये। पारमितायान में धर्मकाय साधन के उपाय धर्मों की यथाभूत तथता की भावना से फल में जो धर्मकाय की प्राप्ति होती है, उसके अनुरूप मार्ग भावना करने की विधि होने पर भी (वहाँ) लक्षण एवं व्यञ्जनों से विभूषित फल रूपकाय के अनुरूप मार्ग में भावना करने की प्रक्रिया उपलब्ध नहीं है। मन्त्रयान में धर्मकाय के अनुरूप भावना के अतिरिक्त रूपकाय साधन के अनुरूप विशेष उपाय फल बुद्धभूमियों की चार सम्पत्तियों के मार्गीकरण के लिये देवयोग भावना भी विद्यमान है। अत: परार्थ रूपकाय के सिद्धि उपाय के मार्ग में महान् भिन्नता होने के कारण महायान को दो (भागों) में विभक्त किया गया है।

वज्रपञ्जर में कहा है—"इसलिये मण्डलचक्र, सुख के उपाय संवर हैं, बुद्ध-अहंकार योग से बुद्धत्व (प्राप्ति) में देर नहीं होगी। बत्तीस लक्षण एवं अस्सी अनुव्यञ्जनों से युक्त शास्ता को इस उपाय से सिद्ध करें (क्योंकि) वह उपाय शास्ता स्वरूप है"। पञ्चाशताधिकचतु:शतटीका में—"कर्म सम्पन्नता पूर्ण नहीं होने से मात्र देवात्म की भावना करने से बुद्धत्व प्राप्त नहीं हो सकता वहाँ देवत्व की भावना करनी है, देवता की नहीं। ऐसा न कर भावना करने से असंख्य कल्पों में बुद्धत्व प्राप्त होगा, शीघ्रता से नहीं। अत: दोनों (देवत्व और देवात्म=देवता) की भावना अत्यन्त (दुष्कर) है (इस) विशिष्ट अधिष्ठान से अत्यन्त शीघ्र सम्यक्सम्बोधि प्राप्त होगी", ऐसा कहा गया है।

महायान के विनेयजन भी दो प्रकार के हैं। (एक है पारमितानयी), जो विनेयजन धर्मकाय के सजातीय हेतु ज्ञानसम्भार शून्यता और रूपकाय के स्वभाव (सजातीय) हेतु श्रेष्ठ पुण्यसम्भार तथा विशिष्ट लक्षण और अनुव्यञ्जनों के हेतु गुरु के आगमन पर स्वागत और प्रस्थान पर पहुँचना आदि कुशल कर्मों का अनेक कल्पों तक सञ्चित (सम्भारों) से उच्च भूमि में पहुँचने के पश्चात् (उसके) अनुरूप लक्षण एवं अनुव्यञ्जनों दोनों से अलंकृत काय को प्राप्त करते हैं तथा उत्तरोत्तर श्रेष्ठतर होते हुए अन्ततोगत्वा चरमभविक विस्तृत मूलमार्ग से बुद्धत्व प्राप्त करते हैं। कुछ अन्य दूसरे मन्त्रनयी विनेयजन हैं (जो) सामान्य मार्ग द्वारा (चित्त) सन्तति को परिष्कृत कर बोधिचित्तानुभूति प्राप्त करने पर सभी सत्त्वों के लिए बुद्धत्व प्राप्त करने के लिए अत्यन्त आशु एवं लघु मार्ग में उत्साह पूर्वक प्रवेश करते

हैं तथा उदार देवयोग एवं गम्भीर तथता इन दोनों के युगनद्ध साधनानुष्ठान से शीघ्र एक ही जीवन में अथवा विशेषकर कलियुग के इस अल्प जीवन में ही सम्यक्सम्बुद्धत्व प्राप्त करते हैं। इनमें प्रथम मार्ग सुदीर्घ एवं प्रस्थान में देरी तथा दूसरा मार्ग अत्यन्त लघु एवं शीघ्रगामी है।

द्वितीय वज्रयान में प्रवेश भेद की विशिष्ट व्याख्या में तीन विषय (सन्निविष्ट) हैं। (क) मन्त्र(यान) (वज्रयान) में प्रवेश के विविध द्वार, (ख) विविध प्रवेशद्वारों की व्यवस्था का अभिप्राय एवं विशिष्टताओं का परिचय और (ग) इन विशेषताओं से युक्त साधकों द्वारा भूमि-मार्ग की गमन विधि।

(क) वज्रयान में प्रवेश के विविध द्वार

यह कहा जा चुका है कि वज्रयान में विविध प्रवेश द्वार हैं। वज्रयान में हीन, मध्यम, उत्तम और अत्युत्तम (चार प्रकार) के विनेयजन हैं, इन्हें चार (प्रकार की) तन्त्रों की देशना की गई है। अतः चार तन्त्रों के आधार पर चार प्रवेश द्वार हैं। वज्रपञ्जर में कहा है—"हीन (बुद्धि) वालों के लिए क्रियातन्त्र, उससे ऊपर वालों को क्रिया रहित योग, उत्तम सत्त्वों के लिये परम (महा)योग तथा उससे श्रेष्ठों (अत्युत्तम) के लिये अनुत्तरयोग कहा है"।

(ख) विशिष्ट प्रवेश द्वारों की व्यवस्था का अभिप्राय एवं विशिष्टताओं का परिचय

वज्रयान में चार प्रकार के विविध प्रवेश द्वार एवं उनके भेदों की व्यवस्था की गई है। असाधारण अनुत्तरतन्त्र में बतलाये नाम एवं अर्थ के माध्यम से चार प्रकार की तथा सामान्य उपाय के माध्यम से चार प्रकार के तन्त्रों की व्यवस्था करने की प्रक्रिया है।

प्रथम की सिद्धि (इस प्रकार) होती है। मन्त्रयान के विनेयजन प्रधान रूप से कामगुणों में राग-मार्गीकरण के माध्यम से रागादि क्लेशों का क्षय करते हैं। वह स्व-भाव्यमान देवी के ईक्षण सुख का मार्गीकरण कर सकते हैं, इससे स्पष्ट एवं गम्भीर स्थूल राग का मार्गीकरण नहीं कर पाते, इसलिए उन्हें क्रियातन्त्र अर्थात् ईक्षणतन्त्र की देशना दी गई है।

(जो) भव्यमान देवी के दर्शन (ईक्षण) ही नहीं हास्य-सुख का भी मार्गीकरण कर सकते हैं, परन्तु उससे स्थूल राग का मार्गीकरण नहीं कर पाते उन्हें चर्यातन्त्र अर्थात्

हासतन्त्र की देशना दी गई है। (जो) भाव्यमान देवी के हास्य-सुख ही नहीं, अपितु पाण्यास्ति सुख का भी मार्गीकरण करते हैं, परन्तु उससे स्पष्ट एवं गम्भीर स्थूल सुख का मार्गीकरण नहीं कर सकते, उन्हें योगतन्त्र अर्थात् पाण्यास्ति तन्त्र की देशना दी गई है। (जो) भाव्यमान विद्या (देवी) में ही नहीं, अपितु साक्षात् मुद्रा के साथ भी द्वन्द्वालिङ्गन सुख का भी मार्गीकरण कर सकते हैं, इससे अन्यतर श्रेष्ठ योग नहीं होने के कारण उन्हें अनुत्तरयोगतन्त्र अर्थात् द्वन्द्वालिङ्गनतन्त्र की देशना दी गई है। सम्पुटतन्त्र में कहा है—

हासदर्शनपाण्यास्तिः द्वन्द्वालिङ्गनैस्तथा ।
तन्त्रेणापि चतुर्णां च चर्वयित्वा घुणः स्थितः ।। (6.3.49/7.1.2-3)

अर्थात् "हास, दर्शन और पाण्यास्ति, द्वन्द्वालिङ्गन के साथ चार प्रकार, घुण की भाँति चार तन्त्र व्यवस्थित हैं"।

दूसरे सामान्य उपाय के माध्यम से तन्त्र चार प्रकार के हैं, इसकी सिद्धि इस प्रकार होती है। इस प्रकार शून्यता एवं देवयोग (उपर्युक्त) कामगुणों के मार्गीकरण का उपाय है। इन दोनों के साक्षात्कार के लिये अनेक बाह्य क्रियाओं पर आश्रित होने वाला क्रियातन्त्र का विनेयजन है। बाह्य क्रियाओं और अध्यात्म समाधि में समान चर्या तथा बाह्य क्रियाओं पर अधिक आश्रित न होने वाला चर्यातन्त्र का विनेयजन है। बाह्य क्रियाओं पर अल्प तथा प्रमुखता से अध्यात्म समाधि चर्या पर आश्रित होने वाला योगतन्त्र का विनेयजन है। बाह्य क्रियाओं की अपेक्षा किए बिना श्रेष्ठ अध्यात्म समाधि और इससे उत्तम अन्य योग न होने से (इस पर आश्रित होने वाला) अनुत्तरतन्त्र का विनेयजन है।

(ग) इन विशेषताओं से युक्त साधकों द्वारा भूमि-मार्ग गमन विधि

इसके दो भेद हैं, एक तन्त्र में प्रवेश से पूर्व सामान्य मार्ग द्वारा चित्तसन्तति शोधन की अनिवार्यता तथा दूसरा असाधारण वज्रयान मार्ग में प्रवेश विधि का प्रतिपादन।

तन्त्र में प्रवेश से पूर्व सामान्य मार्ग द्वारा चित्तसन्तति शोधन की अनिवार्यता— चर्यामेलापक में कहा है—"तत्रायं क्रमः-प्रथमं तावद् बुद्धयानाशये शिक्षते। यदा बुद्धयाने शिक्षितो भवति तदा नवयान एकस्मृतिसमाधौ शिक्षते"। (पृ० 5) अर्थात् इसका यह क्रम है—पहले बुद्धयान के आशय में शिक्षित होना चाहिए। जब बुद्धयान में शिक्षित हो जाए तब नवयान रूपी एकस्मृति समाधि में शिक्षित होना चाहिये। इस प्रकार तन्त्र(यान) में

प्रवेश से पूर्व बुद्धयान का आशय अर्थात् प्रणिधि एवं प्रस्थान, इन दोनों चित्त में भली प्रकार से शिक्षित होना चाहिए। वज्रपाण्यभिषेकतन्त्र (तो० 463) में कहा है—

"जिन लोगों में बोधिचित्त पूर्ण नहीं है उन्हें (तन्त्रयान) में प्रवेश नहीं कराना चाहिये, उन्हें मण्डल का दर्शन भी नहीं कराना चाहिये और न ही उन्हें मुद्रा और मन्त्र की देशना देनी चाहिये"।

वह (बोधि)चित्त भी करुणामूल से उत्पन्न होना चाहिये। महाकरुणा की उत्पत्ति के लिए सभी सत्त्वों को (अपनी) माता के रूप में जानना आदि उत्तम पुरुषों के मार्ग में प्रविष्ट होना चाहिये। उत्तम पुरुष के रूप में स्वीकृत होने के लिए पहले हीन पुरुष एवं मध्यम पुरुषों के आशय एवं मार्ग का अभ्यास होना आवश्यक है। वह इसलिए कि स्वयं तीन दुर्गति आदि संसार के समस्त दुःखों से विमुक्त होने का आशय उत्पन्न किए बिना अन्य सत्त्वों को दुःख से मुक्त नहीं कर सकते। बोधिचर्यावतार में कहा है—

तेषामेव च सत्त्वानां स्वार्थेऽप्येष मनोरथः ।
नोत्पन्नपूर्वः स्वप्नेऽपि परार्थे सम्भवः कुतः ।। (1.24)

"उन सत्त्वों में पहले, स्वार्थ के लिए भी ऐसा चित्त स्वप्न में भी उत्पन्न नहीं हुआ, (तब) परार्थ के लिए कैसे उत्पन्न होगा?"

इसलिए प्रारम्भ से ही तन्त्र की साधना की ओर प्रवृत्त न होकर सभी उपयुक्त लक्षणों एवं गुणों से युक्त कल्याणमित्र (गुरु) को दीर्घकाल तक सन्तुष्ट करते हुए बोधिमार्गक्रम की प्रक्रिया में कल्याणमित्र का सेवन आदि से लेकर क्रमशः बोधिचित्त (उत्पाद) पर्यन्त मार्गों के निश्चयात्मक ज्ञान का अनुभव करना चाहिए।

असाधारण वज्रयान मार्ग में प्रवेश विधि का प्रतिपादन—इसके दो भेद हैं— 1. तीन निम्न तन्त्रों के मार्गगमन का संक्षिप्त प्रतिपादन और 2. अनुत्तरतन्त्र के भूमि-मार्ग गमन का किञ्चित् विस्तृत व्याख्यान।

तीन निम्न तन्त्रों के मार्गगमन का संक्षिप्त प्रतिपादन—इसमें चार भाग हैं—1. मार्ग भावना की पात्रता हेतु अभिषेक प्रदान करने की विधि, 2. पात्र बनने के पश्चात् समय एवं संवर की रक्षा की प्रक्रिया, 3. समय-शुद्धि से मार्ग-भावना विधि तथा 4. शक्ति प्राप्त होने के पश्चात् कर्मसम्भार की प्रक्रिया।

मार्ग-भावना की पात्रता हेतु अभिषेक प्रदान करने की विधि—क्रिया एवं चर्यातन्त्र के विनेयजनों द्वारा उक्त दोनों तन्त्रों में कहे गये अर्थों को बुद्धत्व प्राप्ति के कारण के रूप में संगृहीत करने की प्रक्रिया इस प्रकार है—साधना स्थल, आत्मतत्त्व, विद्यामन्त्र-तत्त्व, जापतत्त्व, अग्निस्थल, नादस्थल, नादान्तध्यान, मन्त्रसाधन प्रवेशविधि, होम एवं अभिषेक इन दस अङ्गों को संगृहीत कर अनुष्ठान करने की आवश्यकता होती है, क्योंकि ध्यानोत्तरपटलक्रम (तो० 808) ''तीनों कालों में इस सूक्ष्म ब्रह्म (तत्त्व) को, गुह्यमन्त्र साधकों द्वारा प्रयास पूर्वक सदैव जाना है, दस अंगों वाले इस विधि का यह क्रम है'', इस कथनानुसार लक्षण सम्पन्न गुरु द्वारा जो शिष्य किसी भी प्रकार के संवर को ग्रहण नहीं कर पाने वाला हो उसे भी अनुगृहीत करने की विधि है। ऐसे शिष्य को बिना अभिषेक के भी मण्डल में प्रवेश करा देना है। वज्रोद्भव में कहा है—''जो कोई शिष्य संवर धारण करने में अशक्त है उसे तुम इत्यादि (इस प्रकार की अभिषेक विधि को) नहीं देना चाहिए, आचार्य के रूप में अनुज्ञा एवं अभिषेक भी प्रदान नहीं करना चाहिए, प्रवेश मात्र करने देना चाहिए''।

लक्षण सम्पन्न गुरु द्वारा बोधिसत्त्व संवर ग्रहण किये हुए विनेयजन को क्रियातन्त्र का अभिषेक किस प्रकार दिया जाता है इसकी विधि इस प्रकार है—मण्डल प्रवेश के तत्काल बाद उदकाभिषेक एवं मुकुटाभिषेक दोनों अनुज्ञा सहित दिया जाता है। ज्ञानतिलक (तो० 422) में कहा है—''तीन तन्त्रों (क्रिया, चर्या, योग) के क्रम से, छह अभिषेक क्रमशः प्रतिपादित हैं। उदकाभिषेक और मुकुटाभिषेक दोनों क्रियातन्त्र में विख्यात हैं''।

लक्षण सम्पन्न गुरु द्वारा चर्यातन्त्र का अभिषेक किस प्रकार दिया जाता है, इसकी विधि इस प्रकार है—यथा उदक, मुकुट, वज्र, घण्टा एवं नाम (ये) पाँच अन्ताधार सहित दिये जाते हैं। वहीं (ज्ञानतिलक में) कहा है—''वज्र, घण्टा तथा नाम (ये तीन) चर्यातन्त्र में विख्यात हैं''।

लक्षण सम्पन्न गुरु द्वारा बोधिसत्त्व एवं मन्त्रसंवर दोनों को ग्रहण कर पाने वाले शिष्य को योगतन्त्र का अभिषेक प्रदान करना चाहिये अर्थात् आचार्याभिषेक सहित पाँच सामान्य अभिषेक प्रदान करने चाहिये। वहीं (ज्ञानतिलक में) कहा है—''अवैवर्तिक अभिषेक (तो) योगतन्त्र में स्पष्ट है''। अतः योगतन्त्र के विनेयजन द्वारा आचार्याभिषेक के तीनों समयों (संवरों) को धारण करने की प्रक्रिया इस प्रकार है—वज्र एवं घण्टा तत्त्व को

स्मरण करते हुए तथा स्वयं को देवकाय महामुद्रा के रूप में भावना करते हुए प्रज्ञा एवं उपाय आदि का अर्थ अभेद्य प्रज्ञोपाय और गम्भीर एवं स्पष्ट अद्वयज्ञान का उत्पाद करने की अधिमुक्ति मात्र पैदा करने के लिये प्रेरित करना चाहिये।

पात्र बनने के पश्चात् समय एवं संवर की रक्षा की प्रक्रिया— क्रिया और चर्यातन्त्र मात्र का अभिषेक प्राप्त करने वालों को बोधिसत्त्व संवर के अतिरिक्त मन्त्र-संवर की रक्षा नहीं करनी पड़ती है। साधक कम से कम दस अकुशल (कर्मों) से विरति का शील, अर्थात् उपासक संवर और अधिक से अधिक उपसम्पदा संवर पर्यन्त किसी भी प्रातिमोक्ष संवर का (चित्त) सन्तति में उत्पन्न किए बिना उसमें बोधिसत्त्व संवर नवीन रूप में उत्पन्न नहीं होता है। बोधिसत्त्व संवर का पालनीय अठारह मूलापत्ति एवं छियालीस दुष्कृत आदि प्रणिधि एवं प्रस्थान चित्त की शिक्षाओं को अच्छी तरह से पालन करना चाहिये तथा विशेष रूप से मूलापत्तियों से निर्लिप्त रहने के लिए निश्चय ही प्रयत्न करना चाहिए। उसके अतिरिक्त विशिष्ट समयों की भी सुसिद्धितन्त्र और वैरोचनाभिसम्बोधि आदि (तन्त्रों) से अवबोध कर विशुद्ध रूप से रक्षा करनी चाहिए। योगतन्त्र में साधकों को मन्त्रसंवर की शिक्षाओं को निम्नलिखित रूप से जानकर जो मन्त्र मार्ग का आधार है, सम्यक् रूप से पालन करना चाहिये। अतः उसका विधिपूर्वक पालन करने का प्रयास करना चाहिए। जैसा कि सुसिद्धितन्त्र (तो० 807) में कहा है—"यह करना चाहिए और यह नहीं, आदि जो विद्यामन्त्र के विनय में कहा है। शैक्ष्य संवरों को भी पुनः-पुनः सदा चिन्तन करना चाहिये। स्व के सुख में आसक्त लोगों को दिन-रात परित्याज्य का परित्याग करना चाहिए। इन सब को करने के पश्चात् यह करूँगा, इसमें बिना निर्लिप्त हुए अग्रसर होना चाहिये तथा परम विद्यामन्त्र और स्व-संवर तथा विद्यामन्त्र (के) विनय में भी साधक (को) ध्यानपूर्वक स्थित रहना चाहिये।

[क्रमशः]

•

कुमारचन्द्रकृता

हेरुकाभ्युदयमहायोगिनीतन्त्रराजस्य

"कतिपयाक्षरापञ्जिका"

KATIPAYĀKṢARĀPAÑJIKĀ

OF

KUMĀRACANDRA

ON

HERUKĀBHYUDAYAMAHĀYOGINĪTANTRARĀJA

आदर्श प्रति—

प्राप्ति स्थान	–	केसर पुस्तकालय, काठमाण्डू, नेपाल
संख्या	–	229
पत्र सं०	–	9
लिपि	–	भुजिमोल

हेरुकाभ्युदयमहायोगिनीतन्त्रराजस्य
कतिपयाक्षरापञ्जिका
कुमारचन्द्रकृता

ॐ नमः श्रीचक्रसंवराय।

श्रीहेरुकनमस्कारपुरस्कारेण लिख्यते ।
तदभ्युदयतन्त्रस्य पञ्जिका कतिपयाक्षरा ।।

अथेत्यादिरहस्यं भगवन्तं श्रीहेरुकमित्यभिधेय उक्तः। विदित्वा भावयित्वेति मार्ग उक्तः। साधको योगी तमेव भगवन्तं स्वाव्यतिभेदेन महामुद्रासिद्धिमायाति प्राप्नोतीति प्रयोजनमुक्तमिति भगवानेव मार्गः फलं चोक्तः। समलामलत्वकृतस्तु भेदः। नेत्यादि। तिथ्यादिविकल्परहितस्येत्यादिपदं षष्ठ्यन्तं बोद्धव्यम्।

अथवा यस्य न तिथिरित्यादिकं तस्येति योज्यम्। वेला सन्ध्यादिवेला। प्रज्ञोपायग्रामभवं ग्राम्यं धर्मं समापत्तिलक्षणमाचरतो योगिनः सिद्धिः सहजानन्दस्य भवति कलियुगे चतुर्थबिन्दुक्षणे सर्वप्रपञ्चानुपलम्भक्षणे। कृतयुगे विरमक्षणे सिद्धिर्विरमानन्दस्य। एकगुणेति प्रज्ञाज्ञानमात्रेण निराभासेन। उपायज्ञानमात्रेण वा साभासेन। त्रेतायामीक्षणालापालिङ्गनभवानन्दक्षणे सिद्धिरानन्दस्य, सिद्धिगुणा प्रज्ञोपायज्ञानमात्रेण। द्वापरे परमक्षणे द्वाभ्यां प्रज्ञोपायाभ्यां परे प्रकृष्टे वज्रपद्मसंयोगहननहाननपर्यवसानक्षणे सिद्धिः परमस्य। त्रिगुणा स्त्रीपुंनपुंसकज्ञानमात्रेण। कलौ चतुःक्षणबिन्द्वेकरसीभावक्षणे सिद्धिश्चतुर्बिन्द्वेकरसतायाः। चतुर्गुणा चतुरेकरूपा। कलावुदरविहारे कललकरचरणादिकमेकम्। इन्द्रियादिकं द्वितीयम्। विज्ञानोत्पादस्तृतीयः। निष्क्रमणं चतुर्थमिति चत्वारि। चतुश्चक्र-चतुःक्षण-चतुर्मुद्रा इति सहजसिद्धमेतन्न संशयः। एकदशशतसहस्रापेक्षया चैकगुणादिपदानि योजनीयानि। कृतयुगे एकक्षणेति विलोमेन सहस्रेण जन्मभिः। त्रेतायां द्विगुणेति दशभिः, द्वापरे त्रिगुणेति शतेन। कलौ चतुर्गुणेति विलोमेन एकेन जन्मना सिद्धिः। उक्तक्रमेण सिद्धीनामवतारविधिस्तदाख्यापकः पटलः। इति श्रीहेरुकाभ्युदये प्रथमपटलपञ्जिका।। 1।।

अथेत्यादि। श्रीहेरुकस्य महामन्त्रं आलिकालिभिः कृतरक्षेति देवतामूर्त्या कवचादि-वज्रपञ्जरादि-हृदयमन्त्रादिभिर्दिग्बन्धं कुर्यात्।

बुधो मन्त्रोद्धारज्ञः सुविशुद्धः समयसेवी। सर्वं सर्वा धर्मधातुमुद्रारूपतया सर्वधर्मव्यापनात्। स्त्रीमुद्रा एकाराकारा सकर्णिकेति मध्यस्थसकर्णिकाष्टदल-कमला। अष्टसु दलेष्वष्टौ वर्गा लेख्याः। तत्र पूर्वदले स्वरवर्गः। स च विसर्गादिः, विसर्जनीयो अःकारः, स एवादिर्यस्य स तथा। तदनन्तरं सानुस्वारः सांकारः। तदनन्तरं दीर्घ औकारादिः। तदनन्तरं ह्रस्व ओकारादिः। अः अं औ ओ ऐ ए ॡ ऌ ॠ ऋ ऊ उ ई इ आ अ इति लिखनक्रमेण विसर्गानुस्वारदीर्घ-ह्रस्वभेदेन चतस्रः स्वरसंज्ञाः। त्रिकोणद्वयसप्ताक्षरोद्धारो वक्ष्यते। स्वरसंज्ञान्तरमाह—संयुक्तं युगमनुस्वारविसर्जनीयावंकाराःकारवकारयोरेकद्विबिन्दुसंसृष्टत्वात् नपुंसकम्, दीर्घस्वरः स्त्री, ह्रस्वस्वरः पुमानिति चत्वारि नामानि। स्वरवर्गस्य द्वितीयः स्वरो ह्रस्व ओकारादिः। प्रथमो दीर्घ औकारादिरिति स्त्रीपुंससंज्ञाव्याख्या। ह्रस्वदीर्घ-संज्ञाव्याख्या च विलोमेन स्वरवर्गं आग्नेययाम्यादि सप्तदलेष्वनुलोमेन द्वितीयादि सप्तवर्गान् पुण्ड(पूर्ण)यन्त्रके पद्मे जिह्वामूलीयः कवर्गः विसर्जनीयश्चवर्गः, उपध्मानीयष्टवर्गः, तवर्गः, पवर्गः, अन्तस्थवर्गः, ऊष्मवर्गः, अन्त्यस्य क्षकारस्य संहारः परित्यागः। क्षकारं त्यक्त्वा वरटके हकार इष्यते। ऊष्माणामन्त्यस्य हकारस्य दलेषु संहारोऽसद्भावः। अथवास्ति स प्रस्तारे सामर्थ्याद् वरटके[न] सह इत्याकूतं शास्तुः।। 2।।

अथेत्यादि। अष्टपदोद्धारः। ॐकारादिकोऽष्टपदमन्त्र उपायरूपः फट्-कारान्तकर्मसाधकः। कर-करेत्यादिकः प्रज्ञारूपः मिलित्वा समग्रो मालामन्त्रः सर्वकर्मकरः। सर्वे मन्त्रा ॐकारादि-फट्कारान्ता ज्ञेयाः।। 3।।

अथेत्यादि चतुर्मन्त्रोद्धारः। हृदयं सारश्चतुर्मुखो मन्त्रः सर्वविजयमन्त्रः श्रेष्ठत्वात्। त्रैलोक्यस्य विजयो यस्मात् स तथा। ॐकारादीत्यनुवर्त्तते। ॐ सुम्भ निसुम्भ हूँ फट्। ॐ ग्रिह्ण 2 हूँ हूँ फट्। ॐ ग्रिह्णापय 2 हूँ फट्। आनय हो भगवन् वज्र हूँ फट्। चतुर्मुखभवत्वाच्चतुर्मुखो मन्त्रः। शान्त्यादिचतुः-कर्मसाधकत्वाच्च।। 4।।

अथेत्यादि। नम भगवताद्यष्टपदवर्णेषु स्वरयोजना। वीराणां वीरेषु कालिवर्णेषु योगिनीनामालीनां मात्रस्य मात्राणां संयोगो हितो मतो ज्ञातः।

भगवदात्माद्वययोगिनां जप्यमन्त्रविधानज्ञानां चतुश्चक्रादिस्थितिज्ञानां सिद्धिः। धर्मो धर्मकायः। कामः संभोगः। अर्थ्यत इत्यर्थोऽर्थनीयो मोक्षो दुर्गत्यादिमोचनं यस्मात् स, तथा निर्माणकायः तद्दो मन्त्रः।। 5।।

अथेत्यादि। पठितसिद्धं हृदयापेक्षयोपहृदयमुच्यते। अन्यत्र गोपितम् इह तु सम्प्रदायमहार्णवे मन्त्रविधानज्ञो वक्ष्यामीत्यनुवर्त्तते। पञ्चाशेत्यादिना सप्ताक्षरोद्धारः। अष्टवर्गापेक्षया पञ्चाशः क्षकारः। तत ऊर्ध्वं पूर्व उकारः। पञ्चाशोर्ध्वमित्यर्थः। मात्रिकयोः स्वरवर्गस्य द्वाविति द्वे च द्वे चेति वीप्सानिर्देशः। द्वयोर्मात्रयोर्द्वितीया मात्रा तस्या अपि द्वितीया मात्रा ईकारः। चतुर्थीत्यर्थः। आलयं सर्वसिद्धीनां बिन्दुद्वयं योगिनीहृदयनन्दनो वज्रसत्त्वो रेफः। ताभ्यां वेष्ठितं ह्रीः। नवमकर्णिकास्थानस्थो नवमो हकारः। त्रयस्त्रिंशो हकारः। अक्षरद्वीति द्वौ हकारौ। एकैकेति प्रत्येकं भिन्नं संयुक्तं विलोमेन मात्राभ्यां द्वादशीभ्यां हकाराभ्याम्। तौ च पञ्चदशार्चितौ हूँ हूँ। महाडाकिनी वैरोचनी ॐकारः। मारेणेति मारणं फट्कारः ताभ्यां परिवारितम्। गर्भितमार्गेणेति क्वचित्पाठः। तत्रापि गकारलोपान्मारेणेत्यवशिष्यत इति स एवार्थः। ॐ ह्रीः ह ह हूँ हूँ फट्। अथ पञ्चाशः क्षकारः स एव नवमोऽष्टवर्गबाह्यत्वात्। तत ऊर्ध्वं किं तत् त्रयस्त्रिंशं ह। तदेव हृदयनन्दनम्। द्वादशमात्राणां मात्राद्वौभिर्द्वितीयदीर्घमात्राभिर्वेष्टितं पञ्चदशार्चितम्। हाँ हीं हूँ हैं हौं हः इत्यर्थः। महाडाकिनीमार्ग ॐ फट्कारौ तेन परिवारितम्। ॐ हाँ हीँ हूँ हैँ हौँ हः फट्। अत्रैव च ह्रस्वमात्राभिर्गर्भितोद्धारः। ह हि हु हे हो हँ इति योज्य तयैव लम्बते। एतदुद्धारे च हाँ हीँ हूँ हैँ हौँ हः इति एकैकाक्षरद्विभिन्नेति वचनात्। अथ पञ्चाशोद्ध्वं ह। नवमं ह। त्रयस्त्रिशं ह। इति त्रयो हकाराः मातृकाद्वौभिर्वेष्टितमिति अनुलोमेन। द्वितीयमात्रा आ तया युक्तं प्रथमं हा स्वरवर्गो हि चतुर्द्धा भेदितः। ह्रस्ववर्गो दीर्घवर्गो नपुंसकवर्गः संयुक्तवर्गश्चेति। तत्र दीर्घवर्गापेक्षया द्वितीया मात्रा ई। तया द्वितीयं ही। विलोमेन ह्रस्ववर्गापेक्षया द्वितीया मात्रा ए। तया द्वितीयं हे। अक्षरद्वीति एतौ ही हेकारौ योगिनीहृदयनन्दनेन वज्रसत्त्वेन रेफेण भिन्नं भेदितौ कुर्यात्। ततो ह्री ह्रे इति स्यात् सर्वसिद्धालयं चतुर्थं ह। मात्रैर्द्वादशभिरिति द्वादश्या मात्रया उकारेण। तथेति भिन्नं हु एकैकं प्रत्येकं पञ्चदशार्चितं अर्द्धेन्दुबिन्दुशिरस्कं कुर्यात्। ततो हाँ ह्रीँ ह्रैँ ह्रँ (हुँ) इति। महाडाकिनी वैरोचनी ॐ। मारणं फट्। ताभ्यां समन्तात् परिवारितं

मध्यीकृतम्। तत ॐ हाँ ह्रीँ हेँ हँ (हुँ) फडिति षड्वीरिणी कवचाक्षरोद्धारः। अनुलोमादि सिद्धा बाह्याध्यात्ममेलकस्थिता दूत्यः। हेरुकयोगः षष्ठक्षणश्च। मुद्रा वाराही सप्तमक्षणश्च। सोम मधु रेतश्च। चरु अनाहतम् एकभोजनं इन्द्रियादिकं च। नातोऽन्यत् किञ्चित् प्रकृष्टम्।। 6।।

अथेत्यादि। वशा(सा) तैलं पिशितमिति केचित्। पुष्पं रजः अमृतोद्भवं रेतः। दधि मष्टिकं विडिति केचित्। क्षीरं कुलिशजलम्। सर्वमण्डलानामग्रं गणमण्डलम्। आसां धर्मोदयात् आकृष्टं संयोगसाधितसमयद्रव्यं ॐ सर्वेत्यादिनाभिमन्त्रितमाहरेत्। वज्रेत्यादि। कपालं पद्मम्। वज्रपद्मयोगेन कपालाञ्जलिना द्रव्यं प्रसाध्य पूजा कार्या। कमलावर्त्तेनादाय मुद्रां पूजयेत्। इमां पूजां बुद्धपूजां जानीयात्। एवमित्युत्पन्न-परिनिष्पन्नक्रमेण सिद्धिः। महामुद्रा महाप्रज्ञा अचिन्त्यरूपा च। तत्रेति योगिदेशे मुद्रापूजायां च। महायोगे सम्बरयोगे मुद्रायां च बुद्धचूडामणिस्तथागतमुद्रितः वाराही स्वमुद्रा आयुधः कर्त्ती कपालं पद्मम्। एकासनं सर्वधर्मात्मकम्। पृथिवी पृथिवीरूपं व्योम रेतस्तत्सुखं च स्थितम् आलिङ्गिता हेरुकहस्तालिङ्गिता वाराही। एवमिति बाह्याध्यात्मरूपेण। पृथिवी इत्यादि पृथिवीमुद्रा। मुद्रायोगं कृत्वा कर्म कुर्यादित्यर्थः।। 7।।

अथेत्यादि। योगिनी वाराही। वीराद्वयो मुद्रया युक्तस्ततः सर्व-कर्मारम्भः।। 8।।

तत इत्यादि। उभयमालामन्त्रयोः सदृशः क्रमः। श्री इत्यादि। उभय-समापत्तिश्च। लक्षलक्षाभिधानात् विस्तरलक्षत्रयाभिधानाच्च। लक्षादनुपलम्भ-क्षणात्। लक्षत्रयमुत्पत्त्युत्पन्नपरिनिष्पन्नानन्दत्रयं च। अजस्रोऽकृतपूर्वसेवः। सर्वेत्यादि परिनिष्पन्नक्रमेण। स्मरणमुत्पत्तिक्रमः। ज्ञानं चतुश्चक्रक्रमः स एव समसुखरूपः व्यापी धर्मधातुरूपं सर्वकर्मव्यापी च तत्करणात्। जपेद् (भावयेत्) चिन्त्यं सर्वग्राम्यकर्मप्रवृत्तस्य स्वरूपमेव सिद्ध्यन्ति सिद्धयः वर्णेभ्यो रूपादविषयेभ्यो विषयान् भक्षो विकल्पः।। 9।।

तत इत्यादि। स्वस्मिन्नभिप्रेते कर्मणीच्छा तया देवतामण्डले पटगतां भगवतीं धूपयित्वा जपेत्। ततो वाराहीरूपस्वमुद्रासमापन्नो जुहुयात्। सोमपानं कृत्वा सर्वो होमः। पीत्वा चास्त(ष्ट)घृतं स्मरेत् जुहोति।। 10।।

अथेत्यादि। वीरेण भगवता वीरया वा अद्वयस्याभेद्यस्य योगिनां सदालिङ्गं सदोर्ध्वलिङ्गानां गुह्यपूजा भक्षणीयादिः। तत ऊर्ध्वलिङ्गत्वात्। पिशाचः शाखोट-

कोऽभया वा। भूमिलता किञ्चूलकः पाठा अविद्धकर्णी रजनी कृष्णहरिद्रा। अन्या च प्रसिद्धा। एवमिति प्रस्थमेकं निष्पादयति रसायनं स्वरेतोविमिश्रितशेफश्चूर्णेन शेहो (शेफो) म्रक्षयेत्। स्वेष्टाञ्च श्रियम्। तद्गृहं स्वकीयं परकीयं वा। अविका गदुरिका। तस्या रजो रक्तञ्च। पुरुषो अविका भवति। अविकारजः स्वयंभुकुसुमं रक्तं स्वरक्तं स्वरेतो वा। तेन द्रव्येण स्त्रियं पुरुषं वा स्पृशेत्। पुरुषाविकाशं लिङ्गाप्रवेशं पद्मं भवति। लिङ्गानुत्थानं चेति क्वचित्। सप्तेत्यादि। यत्र गच्छति तत्र सर्वेष्टस्त्रिय आगच्छन्ति।। 11।।

अथेत्यादि। सिद्धिपटे लेख्यः साधकोऽङ्गस्थयोगिनीकः चित्रकरश्च। मुद्रा पूज्या पुष्पादिभिः समापन्नः पश्चिमाभिमुखः पूर्वाभिमुखं पटं लिखेत् साधयेच्च। तद्रूपेणात्मानं निष्पादयेत्। वाराही स्वमुद्रासमापत्त्या हेरुकवाराहीपूजया महामुद्रासिद्धिः। मुद्रा त्रिलोकव्यापिरूपा सुप्रहीणसवासनाशेषक्लेशज्ञेयावरणा साक्षात्करणलक्षणा सिद्ध्यति विख्याता यशस्विनी।। 12।।

अथेत्यादि। तद्भक्षणेन भाव भवेत् सिद्धिः। सिद्धः सिद्धिदो वीरो हेरुकः स्थितदेहः सर्वदिङ्मुखश्चतुर्मुखादिः। सर्वत इति सप्तमलक्षणसप्तजन्मरूपवाराही-रूपं चित्ताचित्तविद्रूपमुपलम्भशून्यम्। पाणीत्यादि। धर्मधातुतया व्यापकत्वात्। स्वेत्यादि। स्वदेहात् डाकिनीः स्फारयित्वा साध्ये गुदेन प्रवेश्य नवद्वारनाडीमार्गेण पशोः साध्यस्य बीजं जीवं बीजं शुक्रादिकं ग्राहयित्वा निष्काश्य स्वदेहे प्रवेशयेत्। अग्नीत्यादि। तत आकृष्य चण्डमारुतो दीप्ताग्नौ संताप्य भक्षमाणं डाकिनीभिः पश्येत्। बद्धेत्यादि। ध्यानेन प्रेषितडाकिनीभिस्तदाकर्षणम्। वशीत्यादि। तद्वशीकरणं अनुगच्छति स्वयमेव। अहल्या अचाल्या अनिवर्त्याः। संप्रदायो गुरूपदेशः। एतदेवोक्तं हितसुखहेतुः।। 13।।

अथेत्यादि। पञ्चपुटं पञ्चषष्ठ्यात्मकं मण्डलमेतदिति समुदायार्थः। चतुर्दलं पद्मं चतुःपद्मं किं तत् महासुखचक्रं महाचक्रं तन्मध्ये वीरो योगिन्यद्वयः। चतुरित्यादि। चत्वारि पद्मानि चतुष्पद्मानि। एकं पद्ममुक्तं तद्बहिरष्टदलम्। तद्बहिः षोडशदलम्। तद्बहिः द्वात्रिंशद्दलं तद्गर्भसमयमण्डलम्। चतुर्षु दलेषु चतस्रो डाकिन्यादयः। अष्टसु षोडशसु चतुर्विंशतिः प्रचण्डादयः। द्वात्रिंशति द्वात्रिंशद्या-मिन्यादयः। द्वारेषु चतस्रो वज्राङ्कुशी-वज्रपाशी-वज्रस्फे(फो)टी-वज्रावेश्यः। स कृतप्रथमं ततोऽन्यपूजा। तेन तद्रेतसा ऋजुरवक्री उत्तुङ्गानुपूर्वी वलीता

अविस्तृता हीनास्थूलकृशा। नाभोऽधोच्छूनम्। ऊर्ध्वमधिकम्। अथेत्यादि चतस्रश्चतुर्विंशतिद्वात्रिंशच्चतस्रश्चेति चतुःषष्टिः। रुक्मिणी सत्यवामेति द्वे योगेश्वर्यौ सती। अवामा इति स्वस्य भगवतो विद्यावाराही सिद्धाः प्रसिद्धाः। पूर्वं पूर्वमण्डले एताः खण्डरोहादयोऽष्टाविंशति गर्भस्य गर्भसम्बन्धिन्यः। गर्भे चतुरष्टषोडश-दलेष्वित्यर्थः। तद्गर्भत्वात् द्वात्रिंशद्दलकमलस्य। सामान्याद्गर्भबाह्ये यामिन्यादयः। सामान्यादेव च द्वारेषु द्वारपालिन्यः। ॐकार नाम हूँ हूँ फडिति मन्त्राः सर्वासां पूजनीया भावनीयाः। ते ताः सर्वे सर्वाः भगिन्यादि। दक्षिणा पूजा च। तत्रेति मण्डल आम्भोजभाजने संस्कृतविडालविहा(डा)दिकं(?) दक्षिणाभिमुखाचार्यो वासोबद्धास्यं शिष्यमानीय ॐकारादिगायत्र्या रक्षित्वा। पोतङ्गीं प्रतिपोतङ्गीं प्रश्नोत्तरक्रियापूर्वकं प्रवेश्य तदास्ये निवेशयेत्। गायत्र्याभिमन्त्र्य। तन्मे वाराह्याः। वीरहेरुकः प्रचोदयेत् जपेत्। जपक्लिष्टस्य स्वप्नादौ मृत्युं कथयति। जप्त्वा अध्येष्य स्वपरजीवितां जीवितं सुप्यात्। अहमिति मम। एकैनेति गायत्र्या त्रिरात्रं विजने पटादिकं पूजयित्वा प्रत्यूषमारभ्य दिनत्रयं रात्रित्रयं यावत् स्वमुद्रासमापत्त्या गायत्रीं जपेत् ततो दिव्यकायादिः स्यात्।। 14।।

अथेत्यादि। आत्मसिद्ध्यर्थं भव्यशिष्यानुग्रहार्थं वा गणमण्डलं कृष्ण-चतुर्दश्यां दौष्प्रज्ञषोडशयोगिभिः कुर्यात्। ततो वाराहीं वाराहीमन्त्रं जप्त्वा सुम्भादिमन्त्रै रक्षां कृत्वा मण्डलीभूय दूतीं पूजयित्वा शिष्यसंग्रहादि कुर्यात्। षोडशवीरा दूत्यद्वयस्थिताः। योगैर्देवतायोगैः सर्वं विधिं कुर्यात्। प्राप्तसेक-ज्ञानानामेवं मया निगदितं शृणु। मध्यमोत्तमश्वासः पञ्चप्रदीपाः। गन्धोदकं पञ्चामृतानि। वटिकां प्राप्य भावना गणमण्डलादौ दूतीं पूजयेत्। अधमा मन्त्रजाः, उत्तमाः सहजाः, मध्यमाः क्षेत्रजाः। आभिः सिद्धिः स्यात्तस्य योगिनः। श्री इत्यादि। हेरुकयोगमन्त्रमुद्रोद्भवं योगियोगिनीगणं खाद्यपेयादिभिः विधिवत् पूजयेत्। एकमस्य प्रथमं रजः वज्रपद्माभ्यां साध्यमानं कपालस्थं भक्ष्यं ध्यायात्। देवताचक्रं पाणिना तद्भक्षणमिति द्विपात्राभ्यां अशेषं संस्कृतं चरुं कुर्यात्। मन्त्रतन्त्रप्राज्ञी तत्त्वज्ञा यस्य कस्य द्विजादिवर्णस्य। मुखगरुडोपानं मुखेन प्रज्ञाकमलस्थं बोधिचित्तग्रहणम्। पञ्चेति विरशुमामू, गोकुदहन। एभिरेकीकृतम्। उदारा महती। तत्रस्थं प्रज्ञाकमलस्थं चरुकरोटस्थं च। अग्निकार्यं ज्वालनतापनम्। सचराचरं पञ्चबीजादिकं कुसुमं कुसुमितं पद्मं सरजः। तत्र च द्वंद्वजं रेतः। तद्भक्षणयोगाः साधनक्लेशवर्जिताः कष्टसाध्यसिद्धिदाः ज्वालनादि-

साधनवर्जिताश्च पद्मस्थकुसुमादियोगाः सप्तजन्मपशुलक्षणार्थं गर्दभपशुयोगात् जम्बुकादियोगाच्च अधमादिसिद्धिदानां डाकिनीनामाहुतिर्भक्षणं देया। तद्द्रव्यं तद्रेतःसंभवो भक्षणम्। अध्यात्मचरुसमाचरणं तु नाभ्यधसि धर्मोदया पद्मनाभिचन्द्रस्थं हूँकारकिरणैः हृद्गततथागतादीन् क्षोभयित्वा चात्रानुपलम्भे रूपे उदाराऽचिन्त्यपूजारूपादिप्रतीतिभेदविगता पञ्चज्ञानाभिन्ना अनाहताहुतिबलिः सप्तक्षणडाकिनीभ्यो देयः। योगपीठचतुश्चक्रे तद्द्रव्यसंभवादनाहतचरुसंचरणादा-नन्दादिभेदेन हूँकाराग्नौ बाह्यं च भक्ष्यं बाह्यहोमक्रमेण जुहुयात्। यावन्त इत्यादि। सत्यमेव मन्त्रमुद्रादिकं शिष्यायोपदिशेत्। मन्त्रो हूँकारः। तस्य योगिनः सार्धरात्ररूपप्रज्ञाविधिः स्मृतः। मुद्रासंयोगशीलः सिक्तो ज्ञानवान् समयी कारुणिको नाक्रोशयेत् समयिनो नरान्। ज्ञानानि पञ्चदेहश्च लक्षणव्यञ्जनी। सर्वेत्यादि षोडशरात्रि योगियोगिनीः संपूज्य सत्कृत्य जप्त्वा च मन्त्रमुद्रान्वितो नग्नः सदा सप्रज्ञस्तदर्थी जपेत्। तद्द्रव्यं च भक्षयेत्। नग्नो मन्त्रमुद्राकवचादि-रहितः पञ्चज्ञानमात्राम् आत्मदूतीं सहजसुन्दरीं तदद्वयमेव परं सर्वं नेतरत् किञ्चित्। तद्द्रव्यं तदुत्पत्तिक्षणः तद्भक्षणमनुपलम्भः। रात्रौ प्रज्ञायां प्रकटो निमग्नः दिवा उपायो गुप्त एकीभूतः। अनुपलम्भे च यावदाकाशधातुविस्तारी प्रकटः। मण्डलचक्रे चक्रे च गुप्तः संवृतः। प्राण्यङ्गवासः स्वशरीरः चर्म तदेवावासं गृहं मत्वा सुखं वज्रधरत्वं तदर्थी चालयेद् भावयेत्। सितासित-भगवच्चतुरादिमन्त्रमुखानामाक्षेपस्त्यागः। पशव इन्द्रियतद्विषयाः। प्राशनं निः-स्वभावताधिगमः। सोमास्तमुपलम्भः। सर्वद्वंद्वमद्वयचेष्टितं तृतीयं शौचम्।। 15।।

अथेत्यादि। भ्रातृचारो वज्रभ्राता। सोमाद्वयं वज्रपद्मबिन्दुभक्षणम्। अद्वयज्ञानं च सुखं रेतः दुःखं रजः। सार्धं सह। एकसुखदुःखसहसंभूता इत्यर्थः। मन्त्रदूषकाय च तथा प्रकाशने वा मन्त्रदूषणमेव परं कृतं स्यात्। चरु-द्विपात्रसंस्कृतः। वामातर्पणं प्रज्ञाचेतश्च। वामा स्त्री। अङ्गं शरीरम्। तेन वामा स्त्री तदालिङ्गितः वामां पूजयेत्। वामाचारः स्त्रीपूजालब्धसहजाभिसंबोधिः। वाममोक्षो वाराहीसप्तमक्षणश्च निर्वाणम्। उक्तेत्यादि। जपव्रतादिकं विना सप्तमक्षणरूपवाराह्यै हेरुकसंचोदनेन सर्वं सिद्ध्यति।। 16।।

अथेत्यादि। हृत् पिण्डम्। आहारपिण्डं स्वनासाग्रे धृत्वा च स्थितस्त्रियं नासासमीरेणाकृष्य तत्पिण्डं प्रवेश्य वह्न्युटावर्त्तेन शिरसि भ्रमित्वा चोदनामुद्धार्य स्वगले तं क्षिपेत्। प्रेती मृतका। अव्रणादिका। तां गन्धोदकेन स्नापयित्वा। तस्या

योनौ रोचनां स्ववज्रं च क्षिप्त्वा ध्यानजपारम्भः। सा क्रन्दनादि कुर्यात्। तत्र क्षरित्वा रोचनां गृह्णीयात्। तत्तिलकेन सर्वे वश्याकृष्टा भवन्ति। हेत्यादि। हरितालं मनःशिलां पिङ्गललोचनकन्यायोनौ क्षिप्त्वा तत्समापन्नस्तावद्ध्यायाज्जपेद्यावत्सा क्षरति। तत्तिलकेन धनादिदातारो भवन्ति। वर्णाभो भगवान् जीवना भगवती। स्वयं तद्योगधारी। वर्णाभे तिलककरणं धनादिदानम्। जीवना जीवकोपाय इति केचित्। सैनेत्यादि। सैन्यस्योपरि रेफं ध्यात्वा नासासमीरप्रेरितयंकाराधिष्ठितवात-मण्डलेन प्रज्वालयेत्। ततस्तन्नाशः। विसर्गाक्षरं मःकारः अस्त्रं कवचः परमास्त्रं रेफः।। 17।।

अथेत्यादि। एवं विधानविद्यस्तदभिज्ञो योगी। कल्पो विधिरुपचारः तन्त्रमिति केचित्। हृदयस्य हृदयमन्त्रेण जुहुयात्। क्रमेण ध्यानजपलब्धसामर्थ्येन श्मशानादौ शवोत्थापनस्वसामर्थ्येन।। 18।।

अथेत्यादि। हृदयादि मन्त्रजपनाय। वर्णो जातिः प्रस्तरप्राणिवृक्षभेदात् संख्याच्च एतावन्त्यक्षसूत्राणीति। वज्राक्षं वज्राक्षसूत्रं वृक्षविशेष इति केचित्। अस्थि महीन्द्रपुरुषेति लाक्षणिकपुरुषास्थि।

महायोगिन्यङ्गस्थः पूर्वो भगवत्यालिङ्गितो भगवान्। वज्रवाराहीस्वभार्या वामपार्श्वे व्यक्तशक्तिर्योगिनीभिः सह भ्रमेन्नन्दनवने।। 19।।

अथेत्यादि। अद्वयं स्वमुद्रया आहुतेर्जुहुयात्। क्षीरं दुग्धं होतव्यद्रव्यं रात्रौ सहस्रमभिमन्त्र्य लक्षमेकं जुहुयात्।

अथेत्यादि। एवमष्टोत्तरशतमभिमन्त्र्य द्रव्यं मूलमन्त्रेण सहस्राहुतिर्दद्यात्। अपरमन्त्रैः शताहुतीः। सोमः क्षीरं भोगा पृथिवी। मया वाराह्या वीरेश्वरेण भगवता सार्धं महामांसेन नान्येन मांसाहुतिः। पद्मं पद्मपुष्पं एकमेकैकम्।। 20।।

अथेत्यादि। वीरो योगी सेवितुं कर्त्तुम्। चण्डालाग्निमानीय प्रज्वालयेत्। चण्डालसंस्काराग्निमिति केचित्। निशीति विजने। शक्तिमुत्क्षिप्य प्रेषितयोगिनी-भिर्होतव्यद्रव्ये साध्यमाकृष्य प्रवेश्य दूतितत्त्वं सर्वधर्मनिःस्वभावत्वं तद्योग्यः कौकृत्यं पापक्षयाय। तत्रैव पश्चात् घृतादिकायुतहोमेन जपेन च पापक्षय इति केचित्, शान्तिरित्यपरे। निम्बरसप्लुतकाकपक्षान् पिशाचः शाखोटकः। अष्ट-शतोत्तरं सातिरेकाष्टशतानि। आकर्षे सिन्दूरवर्णो भगवान् होतव्यं च सिन्दूर-

म्रक्षितम्। तस्य साध्यस्य मन्त्रान्ते नाम। कामतोऽभिप्रायतः। मुद्रा वाञ्छिता कन्या। राजेन्द्रो योगी। ज्ञानरूपी सामर्थ्यलाभी। आभिराकृष्टाभिः कृतचतुः-षष्टियोगः क्रीडति महामुद्रया। मृदुमध्यापेक्षयोक्तमेतत्। अधिमात्रयोगिनमधि-कृत्याह—सर्वमित्यादि। हेरुकाहंकारी। मुद्रा आत्मीयसहजमुद्रया। सदा अद्वैतं पूजा। तदेवेत्यादि। हत्वा हूँकाररश्मिना अनाहतं नीत्वा ज्ञानवह्नौ स्थित्वा सर्वसंकल्पं अद्वैतसुन्दरीसेवमानः। सहजदूतयो नाड्यः देवतायोगः अद्वैतयोगश्च। हत्वा मुष्ट्यादिभिः नीत्वा भुंक्त्वा कवचादिषु स्थित्वा नखादिभिः। भुञ्जन् सेवमानः।। 21।।

अथेत्यादि। मण्डलचक्रयोगी शवास्ये जुहुयात्। तां तं साध्यं मन्त्रमेव तु साटोपो जपेत्। भगवान् वा अनेकयोगिनीपरिवृतः। ततः स साधकस्त्रैलोक्य-चारीत्यादि। सकलभुवनविजयी। महेत्यादि। अनेन क्रमेण हेरुकेणापि वज्रसत्त्वपदं प्राप्तम्। अजप्तोऽकृतपूर्वसेवकः। निखिलमित्यादि। खवज्रभावनया वज्रसत्त्वत्वं सिध्यति।। 22।।

अथेत्यादि। एकखण्डकपालं कपर्दकः। एकश्रोत्रकपालं वा। भूर्जादौ शतार्द्धदलकमलकिञ्जल्के लिखित्वा नामसहितं साध्यशरीरं दलेषु च विलोमेन मन्त्रं नाम च कपाले क्षिपेत्। तथैवापरचक्रं लिखित्वा तेनाच्छाद्य तथैव पद्मदलेषु मन्त्रं लिखित्वा तानि दलानि विलोममन्त्रजपेन एकैकं जुहुयात्। तन्मनेच्छतः साध्याभिप्रायतः। होमेत्यादि। दलेषु होतव्येषु योगिनीभिः साध्यमाकृष्य प्रवेशितं जानीयात्। चक्रे च बलिं अद्वयं मुद्रया। अहल्यमनन्यथा कार्यम्। रक्तचन्दनमय-प्रतिकृतिहृदये स्वरुधिररोचनाभ्यां चक्रं लिखेत्। समयविपरीतेन विपर्ययपाठेन। सुवर्णवर्णगैरिकया समस्तविद्यावज्रवाराहीहृदयमन्त्रः समस्तस्वशरीरे च मूलमन्त्रं न्यस्य भावनादिकं कुर्वन् तथागतसमो योगी। अपरांश्च मन्त्रान्।। 23।।

अथेत्यादि। दंष्ट्रिणीमुद्रां वज्रवाराहीस्वमुद्रां बद्ध्वा आलिङ्ग्य बीज-विन्यस्तविग्रहं मन्त्रन्यासि भगवद्रूपं शरीरं योगिनम्। एतद्विद्या वज्रवाराही हृदयमन्त्रः। साध्यनाम्ना सह सकृज्जप्तेन सर्वाकर्षणादि एकवातमण्डलीयन्त्रे अमुकमुच्चाटयेत्यादिलिखितचक्रमपरवातमण्डल्यामुत्क्षिपेत्।। 24।।

तत इत्यादि। पोतङ्गीं स्वागतप्रश्नः। प्रतिपोतङ्गीं प्रणतिसुस्वाग-तोत्तरम्।। 25।।

अथेत्यादि। वामसंभवानां योगिनीनां प्रतिपत्तिकारणं विधानज्ञो योगी। चुन्दिकेति शून्यतापारमितेति पर्यायः। शिखगुरुमध्या प्रधानानामिका। बाला कनीयसी। तरुरङ्गुष्ठः। मध्ये सर्ववीरयोगिन्यः मध्यके मेलकमध्ये वीर-योगियोगिनीनां यस्य गणनायकस्य भाषा च्छोमादिकं ज्ञाता स एवाचार्यः। पीठदेवताचक्रं न्यस्य साक्षीकृत्य मूढोऽयमभव्योऽत्र मण्डल इति उक्त्वा वाम-हस्तेन दक्षिणहस्तपृष्ठमार्जनेन विसर्जयेत्। ततस्तमन्यत्र भोजयेत्। एवमित्यादि। शिष्यैः स्वज्ञातसमयज्ञैश्च सार्द्धं भुञ्जीत। योगियोगिनीमध्यके पृष्ठे हस्ततालके विसर्जनं मण्डलचक्रनिर्माणद्विपात्राशेषचरुं शिष्यैः च्छोमकज्ञैश्च सह भुञ्जीत। तथापरामण्डलिनः। सर्वकार्येषु शान्त्यादिषु मण्डले पूर्वोक्तन्यासमण्डलमुक्तम्। याम्यादिदिक्क्रमेण योगिन्यादयः स्थाप्या योगिना वामाचाररतानां डाकिन्यः संप्रसादेनावस्थिताः। एते एताः सः तासां योगिनो वामेन नारी योगिनी सदा स्वसमयं सिद्धं च कथयन्ति। कृतनमस्कारस्य संभावितस्य ताः सद्भावं यान्ति। वामपाणिना स्वदिशां स्वस्थानदिशं कथयति। दुर्लभेत्यादि। पञ्चामृतसेवया डाकिन्यो दृश्यन्ते अश्व(आशु)सिद्धिकराः। वीरेशो योगी कुले गृहे एता मुद्रा लक्षयेत्। अक्षयाः प्रतिप्रसवक्षयाभावात्। अव्ययाः स्वसमयरक्षणात्।। 26।।

अथेत्यादि। मन्त्रो भगवतो हृदयम्। सर्ववज्रं विश्ववज्रम्। तदेव चतुर्मुखम्। तथेत्यादि। कृतभावनामन्त्रमुद्राकवचादिरक्षः। अलंकृतो रक्षितः। उपदेशेत्यादि। नाभिप्रदेशे निष्प्रपञ्चबिन्दुनादॐकारहूँकारादिरूपेण ज्योतीरूपः प्रमाणवायुर्वहति। येनेत्यादि। एक एव मन्त्रस्तथा तथाभिप्रायेण जप्तस्तथा तथा वाञ्छितं सर्वफलप्रदश्चिन्तामणिवत्।। 27।।

अथेत्यादि। सुगुप्तमन्त्रतत्त्वज्ञानामेव परं योगारम्भः। एतदन्यक्रियातन्त्रादि-प्रवृत्तास्तु साधका व्यामोहिताः। तान् प्रति निःशेषसारमन्त्रादिगोपनात्। निः-सारकथनाच्च। हेरुकसमावेशो भावितहेरुकरूपात्मदृढाहंकारः। तस्य प्रसादेन मुद्रागुरुकथितसङ्केतः। अन्तरबाह्यप्रज्ञा च प्रज्ञापारमिता च योगोऽभ्यासः। समापत्तिश्च वामया प्रज्ञया स्त्रिया वा चार्यते जन्यते लोको जगत् सेवाप्याचारः त्रिभवज्ञानालम्बनं च। वाममन्त्रो देवीतन्त्रोक्तमन्त्रः। वामेन वामतन्त्रक्रमेण। योगेत्यादियोगज्ञानं शून्यताकृपाऽभिन्नं वज्रधरज्ञानम्। तद्गोपनार्थं क्रियातन्त्रादि-कमवतारितम्। तेन तत्तन्त्रानुसारिणः क्लिष्टसिद्ध्या सिध्यन्ति न महामुद्रया। गोपनं

च यस्मिन् स तथा। तस्मै तस्यैवावतारणाय शास्त्रम्। अत एव न सिध्यन्ति न मुच्यन्ते। परिपाचनं योगतन्त्रेण मोचनं योगोत्तरेण।। 28।।

अन्यत्राधारो गोपित इह तु भाषितः। गोष्ठोत्पलिका वायुः शेषोऽग्निः। अशुष्को वरुणः शिरास्त्रं पृथिवी गिरिः सुमेरुः आधारो विश्वकुलिशकमले। चित्तं मण्डलाधिपतिः। गोष्ठेत्याद्युद्देशस्य महेत्यादिनिर्देशः। ऊनशतार्द्धं हन्तीति तृतीयायाः कान्तश्चन्द्रः तिसृभिर्वा कलाभिः कान्तस्तदूर्ध्वेन बिन्दुः। चतुर्थान्तः पञ्चमः स्वरः तेन प्रलम्ब्य युक्तम्। ततो हूँ स्यात्। त्रिकान्तः शषसान्तो ह इति केचित्। तत् हूँकारप्रसृतिकं मण्डलं भगवच्छरीरं लक्षेद् भावयेत्। द्वादशाङ्गप्रतीत्यसमुत्पाद-विशुद्ध्या चतुर्विंशत्यर्द्धभुजम्। द्विभुजादिकं लक्षभुजपर्यन्तम्। सत्यद्वयसमाश्रितं द्विभुजम्। द्विसत्यविशुद्ध्या द्विभुजमित्यर्थः। परमार्थः प्रज्ञा संवृतिरुपायः। तन्निष्ठं च चतुःषष्टिः परिवारा अस्येति तथा। तं भगवन्तं पूजयेन् निध्यायात्। लोकेश्वरं रेतः। देवदारुं रक्तपद्मस्थितरक्तम्।

तेनानुचरणं चतुःषष्टिपूजनञ्च। बुद्धत्वकुशलैः सिद्ध्यनुगुणैः पूर्णत्वम्। इह वर्तमाने द्वयं हयो हस्ती च क्रोधो नरः महानेत्री शकुनः। अन्यदपि तद्द्रव्यवलिं दत्त्वा वाराहीहृदयमन्त्रं सकृदावर्त्तयेत्। भूर्जलिखितं च शिरसि धारयेत्। स्त्रीपुरुषाणां स्कन्धे हस्तं दत्त्वा तन्मन्त्रं जपेत्। तास्ते च वश्या भवन्ति। पादतले लेपे अन्धकारे ज्वलति। कंटकादिना न विध्यते। परविद्याजप्तेन भस्मना परमन्त्रादिकं बुद्धिं स्थ(ा)पित्वाहतं न प्रभाव्य तन्मन्त्राभिमन्त्रितं भस्मनाहतं स्तभ्नोति। अष्टशतजप्ते बद्ध्वा स्थापिते वस्त्रे बहूनि वासांसि मिलन्ति। एवं धान्यादिकम्। तर्जनीमध्यानामिकाभिर्ललाटे तिस्रो भस्मरेखाः पुण्ड्रकं त्र्यङ्गुली-म्रक्षितभस्मस्फेटकमिति केचित्। प्रदेशमात्रं स्तोकस्तोकं जुहुयात्। म्रियते इत्यध्याहार्यम्। पुरुषलिङ्गं वराङ्गे योनौ उन्मत्ता स्त्री भवेत्। वीरोदकमध्यम्। मुद्रापरिवर्तनेन मन्त्रविपर्येण स्त्रियाः पुरुषस्य वा नाम्ना निखनेत्। परिवर्तनं रूपान्तरम्। इत्यूनत्रिंशत्तमः पटलः।। 29।।

प्रियभोजनमेकनयाधिमुक्तिकैः सह भोजनम्। वज्रभ्रातृभिः सह चरु-भोजनम्। सुशिष्यैः सह गणभोजनम्। गणमण्डलं च स्यात्। स्वयोगिनीभिः मिलित्वा बलिभोजनं सिद्धिमण्डलञ्च कुर्यात्। अद्वयज्ञानं जानाति योगी तत्त्ववेदिपुद्गलपरिभोगजपुण्यसंभारात् सुभगो योगी सिध्यति। स्त्रीत्यादि। धनं

संचित्य देवतारूपयोगियोगिनीस्तर्पयेदित्यर्थः। स्त्रियो बाह्याध्यात्मरूपाः पारमिताश्च। एकस्तम्भः। सशिरः कङ्कालयष्टिः द्वारं निर्गमप्रवेशोपायः। रन्ध्रं पञ्चस्कन्धेन्द्रियक्लेशधात्वादयः। हेरुकरूपेण प्रसिध्यति प्रसिद्धो भवति। सोमो मदिरागन्धोदकादि पञ्चामृतम्। जीवकृत् स्वरेतः। भगवतीत्यादि। वाराहीरूपा योगिन्यो विनैव जपादिना सिद्धाः सहजसिद्धा इत्यर्थः। गुह्येत्यादि। बुद्धतुल्यस्यापि गुह्यस्य पद्मस्य चर्या सेवादिका। त्रीत्यादि। धर्मोदया सेवया स्वयम्भूकुसुमं स्वयम्भुञ्जीत। ममेत्यादि। स्वयम्भूकुसुमपूजितवाराहीप्रसादेनायुरारोग्यादिवर-लाभिनो योगिनः। ममेति। स्वयम्भूकुसुमोपेता वाराहीति केचित्। मम वाराह्याः प्रसादेन वरलब्धाः। मन्त्रं हृदयादिकम्। मनसा यथाऽन्यो न शृणुयात्। इति त्रिंशत्तमः पटलः।। 30।।

सर्वगोप्यषडक्षरोमन्त्रः तदभिमन्त्रितप्रक्षालितहिरण्यादिकोदककृततिलकेन यथोक्तं स्यात्। साध्यनाम फट्कारान्तषडक्षरमन्त्रेण वचनादि बन्धः।

अथेत्यादि। भगवती जप्ता यथोक्तसिद्धिदा। पटाग्रतोऽर्चनं पञ्चोपहारैः मुद्रा गुह्यपूजा च। अन्यत्र प्रियभोजनादिकं बाह्यबलिं स्वभोजनं निवेद्य दीपं दत्त्वा तत्र दीपे कज्जलं पातयेत्। घृतेत्यादि। पानीये कुण्डादिकं धातव्यम्। इत्येकत्रिंशत्तमः पटलः।। 31।।

परिवर्तनमेकरहस्यं गुप्तम्। विधिक्रियानिर्देशो गोबाले इत्यादि। सभस्म श्मशानभस्म। एकाराकृतिस्थित आकर्षणाशयेन जपेत्। गुर्व्वीं स्पृष्ट्वा मुष्टिं कुर्यात्। मुष्टिमोचनेन मोक्षः। इति द्वात्रिंशत्तमः पटलः।। 32।।

ब्रह्मेत्यादि। वक्ष्यमाणो विधिरशक्यान्यथाक्रियः। दण्डः शापः ब्रह्मदण्डोऽद्वयज्ञानम्। तच्छक्तो योगीति केचित्। योगाङ्गारः श्मशानाङ्गारः। नामविदर्भितं मन्त्रं लिखित्वा जपेत्। गोप्यकर्मकरणम्। तेनैवाङ्गारेण लिखनं गोवटे गोष्ठे। स्थानं शाला सर्वस्वं शरीरं विद्या भगवतो हृदयमन्त्रः। भगवत्युपहृदयमन्त्रश्च। तयोरुपचारेण जपादिना सर्वकर्म कुर्यात्। विद्यानिर्देशो पञ्चेत्यादिः।। 33।।

पृथ्वी। ॐ वकारे औकारं। बीजे हकारे एकारं। वह्निपुत्रो र। तृतीय इ। हूँ फट्। तत ॐ वौ हे रि हूँ फट्। अन्यकल्पोपचारेण दशमपटलोक्तरजस्वला-रक्तेनेत्यादिना धूपयित्वा इमं मन्त्रं जपेत्। पात्रे अवतरति। साधकः पश्चिमाभिमुखः

प्रविश्य यावन्ति वि(व्य)वस्थितानि षोडशमुखान्येव मण्डलानि विधाय पीठकाद्यासनानि वस्त्राच्छादितानि स्थापयित्वा तदग्रतो मण्डलानि कृत्वा भक्ष्यादिकं दद्यात्। निर्यासामृतानि गोकुदहनानि च तैः यदि च न साक्षादागत्य कथयन्ति तदा योगिनो मनस्याविश्य ज्ञानमुत्पादयन्ति। अन्यत्र बलिं भोजनं मांसादिभिर्दद्यात्। समयिनीभिः गुरुपूजया हेरुकपूजैव स्यात्। इति चतुस्त्रिंशत्तमः पटलः।। 34।।

प्रसाधकः प्रसाधकस्य। येन ज्ञानेन सा महामुद्रा सिध्यति तज्ज्ञानविशेषैः। आम्नायेन लब्धाभिषेको भावनादिना लब्धनिमित्तः। पूर्ववद् वाराहीपटाग्रतोऽबाह्यमहामुद्रां पूजयित्वा त्रिरात्रिं महायोगेऽद्वययोगे स्थितो योगी प्रणिपातं कुर्यात्। ततः स्वमुद्रामद्वययोगेन पूजयेत्। ततो गन्धर्वसत्त्ववत् स्वप्नमायाप्रतिबिम्बादिसमश्रीहेरुकवज्रवाराह्यैसाधकतन्मुद्रयोर्देहे प्रविशतः। ततस्तौ तत्समौ भवतः। भगवानेव योगी भवतीत्यर्थः। महामुद्रासिद्ध्या सिध्यतीति यावत्। त्रीति त्रिरात्रं हेरुकेण सार्द्धं तस्या भगवत्सहितवाराह्याः। किञ्च अर्घो मन्त्रन्यासादिः जानु वज्रं धरणी धर्मोदया। प्रणिपातो धरण्यां वज्रशिरोरतिः। पूजयेद् चालयेत्। ततः सहजस्य साधकः। अत एवोत्तमः। अतः परमविच्छेदि महासुखसाधनात्। फलावस्थाया विच्छेदाभावात्। ततः साधकस्योपायस्य कायेति दुरवद्वारेण प्रज्ञागतं बोधिचित्तं समापत्तौ प्रविशति मिलति। महामुद्रासिद्धिं साधयतीति साधकमुद्रासम्बद्धं बोधिचित्तं एकचित्तो भवतीत्यर्थः। प्रज्ञोपाययोरेकमेव बोधिचित्तमिति यावत्। विच्छेदाभावात्। सिद्धौ तत् तत्र प्रविशतीति न संशयः। प्रकृष्टवान् सहजानन्दमयः। क्षणाद्विलक्षणं प्राप्य वीरो भगवान् सर्वं सहजैकरसं विश्वं तज्जं सर्वश्च ज्ञश्च सर्वज्ञः। तदन्याभावात्। त्रैलोक्यचारी त्रैधातुकात्मकनाडीचक्राङ्गं प्रत्यङ्गं पादतलशिरःपर्यन्तं सर्वशरीरे बोधिचित्तसंचारी महासुखसमुद्रः महाज्ञानो महामुद्राज्ञानः। सर्वत्र सर्वधर्मधातुप्रतिवेधात् धर्मकायः। प्रहृष्टमान इत्यादिः संभोगः। सर्वसत्त्वार्थकारीति निर्माणकायः। त्रिधातूनां प्रभुः पर्युपास्यः। सर्वद्वंद्वं यावत् प्रहातव्यं येन महामुद्राज्ञानेन विज्ञातेनाभिसम्ब(बु)द्धेन। गायत्रीज्ञातेनेति केचित्। पृथिवीत्यादिः परिवारः। स्तम्भोऽस्मादितः संजातोऽस्येति तथा। स्तम्भक इत्यर्थः। एवमन्यस्यापि स्तम्भको मन्त्रः सचलस्तृणादिः स्तम्भितः सन् भूधरवदचाल्यः। मन्त्रस्य बलेन। एवमित्यादि धर्मोदयामध्यस्थितं मन्त्रं न्यसेत्। मूखे(के)त्यादि मूकीकरणम्। साध्यमुखे परवादिविद्याकर्षणे जिह्वाग्रे कृष्णरूपं

मन्त्रं साध्यशरीरे। आत्मना स्वयं चिन्तामणिरयं मन्त्रः सर्वदः चिन्तामण्यात्मा वा। वीरेशो हेरुकयोगयुक्तः। स्वव्रतोऽनापत्तिकः। नादि इत्यादि। हेरुकयोगिनामपकारिणो नदीप्रवेशादिभिर्म्रियन्ते। ते वज्रसत्त्वादयो जायन्ते। उपतिष्ठन्ते रक्षार्थं मन्त्री इत्यादि। कर्मप्रसरे नामविदर्भितमन्त्रं लिखेत्। इति पञ्चत्रिंशत्तमः पटलः।। 35।।

उद्भ्रान्तं वातमण्डल्युत्थापितम्। वातालीप्रतिकृतिहृदये लिखितनाम विदर्भितहृदये मन्त्रचक्रं क्षिप्त्वा विपरीतं हृदयं जपेत्। षडक्षरेण दूतीभिर्भ्राम्यमाणं नीयमानं पश्येत्। वायुमण्डले नासापुटवायुना साध्यं जुहुयात्। हृदयसुम्भादि मन्त्रः। यन्त्रेति। तथैव हृदये निक्षिप्य अष्टशतजापः। योगिनीः प्रेष्य पाशेनेत्यादिकं ध्यात्वा तथा कुर्यात्। अर्द्धचन्द्राकृतिकपाले लिखितेऽर्द्धचन्द्रे स साध्यनाममन्त्रं लिखेत्। तेनैवाप्रत्यानीतेन कर्मणा म्रियते मन्त्रदूषकः। रक्तस्रावेणेति केचित्। स्वेष्टसिद्धिं कामयमानः तेषां तथागतादीनामग्रे ध्वनिरयं गुरुबुद्धाद्यपकारीति श्रावणम्। इति कृत्वा कर्म कुर्यात्। महाशून्यं श्मशानम्। तत्र कर्मारम्भः एता देवताः साहाय्यीभाजः लौकिकाचारो वश्यादिः बुधाः प्रयोगकुशला योगिनः। इति षट्त्रिंशत्तमः पटलः।। 36।।

स्वनाम अनन्तादि नाम। एकैकस्यानन्तादेः पृथङ्मन्त्रः षष्ठद्वितीयं फ। पञ्चम उ। षोडश अः। ततः फुः। आद्यन्तेनेति फुः। अनन्त फुः। इत्यादयो मन्त्राः। तन्नदीमृत्तिकया सप्तफणिनोऽष्टौ नागान् घटयेत् श्मशानचीरिकादौ कमलाष्टदलेषु नागान् लिखित्वा तेषां प्रत्येकं हृदयेषु तन्नामानि गर्भितहेरुकहृदयमन्त्रमध्येषु लिखेत्। तच्चीरिकादिकं घटितनागहृदयेषु क्षिपेत्। तान्नागान् विरचितसरोजाष्टपत्रेषु धारयेत्। ततः सप्तदिनानि पूजयेत्। दिशेति दिक्षु। वर्णमिति स्वस्ववर्णाः श्मशानवाससि तादृशमेव तच्चक्रं लिखित्वा नलिकादौ क्षिप्त्वा तापयेत्। आदिः प्रथमः। किंभूतः केत्वन्तः। आद्यन्तग्रहणान्मध्यः सोमादिः केतुरेव वाऽन्तः। आदि ॐकारः स्वस्वतन्त्रं नाम। क्रोधहृदयम्। अनन्तः स्वाहा। तत ॐ आदि हूँ हूँ स्वाहा इत्यादि मन्त्राः। तत् प्रकीर्त्तितम्। एषामपि तत्र वंकारादि स्वनाम हूँ हूँ स्वाहान्ता मन्त्राः प्रकीर्त्तिताः। क्रोधो हूँकारः। तदुक्तं स्वनाम शास्त्रेषु च स्वयं वाराही। योगी मण्डलाधिपतिः बाह्याध्यात्महोमं कुर्यात्। ततस्तेषां कुण्डे प्रधानचिह्नानि स्वमन्त्रांश्च लिखित्वा बाह्यहोमेन साधकस्य किङ्करा भवन्ति। चतुर्मुखा सुम्भादिमन्त्राः। तदादिना मन्त्रेण दिग्बन्धादिकं

स्वरक्षां च कुर्यात्। ततो घृताक्तान् व्रीहीन् जुहुयात्। अष्टनवतमपुटद्वयम्। ततस्ते आराधनज्ञानतत्परा अवहिताः सन्तः सर्वज्ञं तद्योगिनमाराधयन्ति। सर्वेत्यादिकमाराध्यविशेषणं सर्वज्ञज्ञानतत्पराः स्वमुद्रोपेता इति केचित्। चतुःषष्टि बाह्याध्यात्मभेदेन पूजयेत्। आलयज्ञानं सहजज्ञानं तस्य विश्वैकरसप्रकाशमयत्वात्। तदेवाह—स्वयंभूमिति। सर्वज्ञवेदनमिति सर्वज्ञं स्वयमेव तद्भवति तद्वा लभते। इति सप्तत्रिंशत्तमः पटलः।। 37।।

परं प्रकृष्टं दूतीश्वरी निर्वाणलक्षणा वाराही। चतुर्मुखस्य भगवतो हुँकारः। कर्मभेदाद् वर्णभेदी सुम्भादिमन्त्रश्चेति केचित्। महावस्त्रं दिग्वासः नरादिचर्मणा वाच्छादनवसनं श्मशानपतितपांसुकूलञ्च। महासेको मज्जा। महामधु महातैलं सर्वश्मशानं स्वदेहः। तत्रैव सहजस्थिता अध्यात्मप्रज्ञा या सा श्मशानिकीनाम मुद्रोच्यते। सर्वमेव त्रैधातुकं श्मशानं निरात्मकं तस्येयं प्रविवेत्री प्रज्ञापारमिता विश्वमुद्रणान् मुद्रा। अध्यात्मबाह्या वा महावस्त्रादि सेविनो योगिन इयं मुद्रा। अध्यात्म चतुश्चक्रमिति केचित्। कियन्ति कार्याणि आह—यावन्तो जगत्परमाणवस्तावन्ति। असंख्येयमित्यर्थः। परमाणुसंख्यानपि शत्रूनाकृष्टान् पाशेनेत्यादीति केचित्। साध्यस्य शिरसि, स्थित्वा जुहुयात्। कालदष्टवन् म्रियते। एवं सिद्धयोगिन्यादयश्च तच्छिरश्छित्वा जुहुतीति ध्यायात्। हृदयेन मन्त्रेण प्रतिकृतौ साध्यं संहृत्यानीय प्रवेश्य प्रैषित योगिनीभिः पातयेत्। प्रतिकृतिं आकर्षणमुद्रा कुब्जिकाभावनादि क्रियैवेति केचित्। मुद्रायोगिनीकुब्जेत्यपरे। अनयोक्तया संहरति सुम्भयति। अनया अनन्तरदूत्या तत् स्वभावेन त्रैलोक्यं नाशयेदिति केचित्। सर्वविषयविषयिव्यावृत्तिः सर्वानुपलम्भः कुब्जिकामुद्रा। तया चक्रत्रयं च संहरेदित्यपरे। पूर्वोक्त एकविंशपटलोक्तो विधिः। निम्बपत्ररसाक्तान् पक्षान् जुहुयात्। इत्यष्टत्रिंशत्तमः पटलः।। 38।।

विधानमात्मरक्षणं दिग्बन्धादि च विशुद्धेन मन्त्रमूर्त्यादिना मुरजं लिखित्वा तन्मध्ये तिर्यक् षट् षट् रेखाः कुर्यात्। मुरजस्य बन्धरज्जुमिवोपरि रेखात्मिकां दद्यात्। तदाह—नवमी रेखा बन्धनस्येत्युद्बन्धनसम्बन्धिनी समेन परिपाट्या अक्षराणि न तु विषमेण। ऊर्ध्वमष्टौ रेखास्तिर्यक् समन्ताद् वर्त्तुलरेखा दत्त्वा मुरजं कुर्यादित्यन्ये। अति बहवः। रकारे रेफे पञ्चमस्वर उकारः। एतेन रु इति स्यात्। ॐ हे हे रु चतुरक्षरापेक्षया पञ्चमं रु इति केचित्। ॐ सुम्भनिसुम्भ

हूँ हूँ फट्। वज्रसत्त्वस्य ॐ हा ह्रीँ ग्रिह्ल 2 म्रँ हूँ फट्। वैरोचनस्य। ॐ आरोलिक् स्वाहा। पद्मनर्त्तेश्वरस्य। ॐ हे हे रु रु कं हूँ फट् हेरुकस्य। ॐ खशो(सो)ल्काय हूँ फट् वज्रसूर्यस्य। ॐ भो भगवन् आनय हूँ फट् परमाश्वस्य मन्त्रः। इत्यूनचत्वारिंशत्तमः पटलः।। 39।।

संरक्षमन्त्रन्यासेन सर्वकर्माणि शान्तिकादीनि न्यासं कृत्वा भोजनाद्यर्थ-मागन्तुकाय योगिने च्छोमां दर्शयेत्। हस्ते वाराहीसमापन्नहेरुकम्। हस्तपृष्टे च चतुःषष्टियोगिनीं चिन्तयेत्। च्छोमां करोति समागमम्। वीरं योगिनं योगिनीं च दिक्क्रमेण दक्षिणापूर्वोत्तरपश्चिमासु दिक्षु विदिक्क्रमेण च नैर्ऋतिवाय्वी-शानाग्निकोणेषु भाजनादिपात्रेषु पानादिकं दद्यात्। आह चानुलोमविलोमेन कपालेषु दापयेत्। कलायोगिन्यः षडित्येकचत्वारिंशपटलोक्ता लोचना-मामकी-पाण्डरादि पारमितान्ताः। द्विगुणमित्यनन्तरोक्ता वज्रसत्त्वादयः जपेत्। करन्यासेन सचक्रं भगवन्तं पूजयेत्। चरुञ्च भुञ्जीत। भोजयेच्चान्यान् संवरमात्मानं चक्रिणं द्विपात्राशेषचरुणा तिथौ दशम्यां तिथिभिः पञ्चदशभिः कलाक्रमेण। सम्पूर्णश्चन्द्र-बिन्दुश्चरुः। बिन्दुकलासंपूरणक्रमेण हेरुक एव मण्डलो बिन्दुरूपः। मध्यो देहमध्यः। हकारबिन्दुः प्रज्ञामुखैकलोलीभूतो हस्तपूजाप्रवर्तनेनोच्यते। हस्तपूजा अङ्गुलीचालनादि तर्पणं च। योगेश्वरी गुह्यप्रज्ञा। षट्कलाशब्दवाच्ययोगिनी-भिर्द्विगुणशब्दवाच्यवज्रसत्त्वादिभिः सह सनायकं मण्डलं कुर्यात्। द्वादशभिर्योगि-योगिनीभिरित्यर्थः। द्वादशभिः संख्यया द्वादशयोगिनीभिश्च। त्रयोदशात्मकहेरुक-मण्डलगतदेवतासंख्याडाकिन्यश्च्छोमया भगिनीशब्दवाच्याः योगिनाम्। इति चत्वारिंशत्तमः पटलः।। 40।।

चत्वारि चक्राणि क्षणा आनन्दाः सर्वलोकप्रसिद्धयुगादीनि च कृतयुगा-दीन्युच्यन्ते। तेषु या डाकिन्यो वर्तन्ते ताः सर्वा मात्रादिशब्दवाच्या। इह तेषु योगेषु तासां सेवा सिद्ध्यनुगुणा च। माता गुरुप्रज्ञासेकसिक्ता भगिनी सहश्राविणी मातागुरुसप्तसेकसिक्ता च। दुहिता स्वयं मन्त्रादिदानसंस्कृता सप्तसेकसिक्ता च। अन्यसिक्ता स्वयं श्राविता च। भार्या स्वयं प्रज्ञासेकसिक्ता। सर्ववीरस्य हेरुकाद्वय-ज्ञानस्यानुभावेन ब्रह्मादिभिः सर्वैः सिद्धः पूज्यते। चत्वारि च तान्युत्तमोत्तमानि। डाकिनी वाराही विद्या तन्मन्त्र एकम्। राजा हेरुको विद्या तन्मन्त्रो द्वितीयम्। मन्त्रादिसमयसंवरस्तृतीयम्। योगज्ञानं प्रज्ञोपायाद्वयज्ञानं चतुर्थं रत्नम्। तस्मै

मण्डलवरवर्त्तिने पुद्गलाय पद्महस्तेन देयं पानादिकं स्वयञ्च तथा गृह्णीयात्। तथा स पूज्यो यथाहं पूज्यः स हि योगी सर्ववीराद्वयतया स्थितः सज्जना वीरा-दयस्तैर्मिलितरूपः अहं च यथा पूज्यस्तथा सर्वे पूज्याः। यतोऽहमेवाद्वयभावेन सज्जनमेलकात्मा सर्वत्र स्थितो न मत्तोऽन्ये सर्वे अन्यत्र सर्वम्। इत्येक-चत्वारिंशत्तमः पटलः।। 41।।

मासमेकं भावनाजपादिकं कुर्यात्। ततो निमित्तेन योगिन्यादेशः। अन्यत आगत्य मिलति। स्वयं वा साक्षात् तं पश्यति। पिष्टककृतप्रतिकृतौ भूर्ज्जादि-लिखितसाध्यनाममन्त्रचक्रं प्रक्षिपेत्। तां रक्तचन्दनलिप्ताङ्गीं कृत्वा पूजयित्वा मन्त्रजापादि कुर्यात्। ततस्तद्वशीकरणं स्यात्। अथवा साध्यमाकृष्य तच्छुक्रादि पीत्वा भक्षयेत्। खेचरादिसिद्धिमण्डलकाले पूजाविशेषः कार्यः। समयी हेरुकप्रतिरूपः बाह्याध्यात्महोमं कृत्वा मद्येन मांसं जुहुयात् श्मशानादौ बलिं दद्यात्। सत्कल्पना भगवद्रूपात्मसंहारः। चतुर्भिर्योगैः सम्पूर्णं मुद्रणं संग्रहः सर्वस्य यावत् कर्तव्यस्य भवति। तदेवाह—स्वेत्यादिना पटलान्तेन। देवतायोगः स एको योगः। बिन्द्वित्यादि तत्त्वयोगो द्वितीयः स वा चित्तानुप्रवेशः। कर्म इत्यादि कर्मयोगस्तृतीयः। पूजा इत्यादि पीठादिभूमिपारमिताविशुद्धिर्योगश्चतुर्थो योगः। नातः परं किञ्चिदस्ति योगिनः करणीयम्। चतुर्योगमुद्रणं मन्त्रो मूर्त्तिश्चिह्नं मौलिस्वकुलमुद्रणं च। धर्मसंभोगनिर्माणमहासुखभेदेन च बिन्दुनादादिरूपमेव ध्यात्वा असंयोगो निःस्वभावतालक्षणमहामुद्रायोगः। महायोगेति क्वचित्पाठः। तस्याप्येष एवार्थ इति केचित्। कर्मभेदेन शुभादिरूपञ्च शान्तिकाद्यर्थेन नाभिहृदादिषु हूँकारमारोप्य प्रयोजनविशेषवशेन प्लुतादिकमुच्चरेदिति केचित्। अनिष्टमोचनान् मोक्षः शान्तिः। आवरणमोचनाच्च महामुद्रा च। इयञ्च शान्तिः सर्वावरणशमनात्। तदर्थी प्लुतमुच्चरेत्। वश्यार्थी ह्रस्वं दृश्यत इति च पाठो विधेयार्थः। छिन्नं झटितं द्रागुच्चरितं विश्रान्तं मारणमभिचारः। घण्टेत्यादि। प्लुतादेः स्थाननियमस्य च व्याख्या। मेघेति दीर्घस्य। अगो इति ह्रस्वस्य। यथा गौः हूँ करोति ग्रीवामवनाम्य द्रागचिरं च काशयति। यथा फूत्कारो मांसं लोप्यति झटिति विच्छेदी विज्ञातशिष्येण तत्परेण ज्ञानं ग्राह्यं गुरोरुपदेशेन। मार्गबाह्यात् मार्गबहिर्मुखात्। उपायशुश्रूषा पर्युपास्तिः। उपलक्षकं चिह्नमुद्देश ऊहोभ्युपायः। जलगर्त्ते जनचूडादिवत्। ग्राह्यविषया हेरुकाद्याकाराः। विज्ञानकर्मप्रसरः तज्ज्ञानी

देशको गुरुः मार्गो भावनादिक्रमः। शास्त्रमुपासकादिप्रतिपादकमिति केचित्। लक्षणमुपायशास्त्रेणोपदिश्यते। इति द्वाचत्वरिंशत्तमः पटलः।। 42।।

शृणु भगवन् अहं वाराही वक्ष्ये। कथितं विस्तरं त्रिलक्षाभिधाने इह चैकस्तम्भे इत्यादिना। मण्डलं कूटागारं अन्यत्रापि नाभिमध्यस्थानं तत्र पद्मं तत्र भगवन्! निष्कलं निर्विभागं शून्यत्वात् विभागाश्चाङ्गा बिन्दुनापा(दा)दयः। निः-क्लेशमिति केचित्। निरञ्जनन्निःकल्पनम्। निःस्वभावमिति केचित्। मां वाराहीं विग्रहवतीमाश्लिष्येक्षते भगवानेव। भगवान् सु(मु)खं मम क्वचिदेव नाभिपद्मे मां प्रज्ञापारमितां प्रेक्षते प्रजानीते सु(मु)खं सर्वधर्माणाम्। स्वरूपप्रतिपत्तिद्वारमुत्पत्ति-द्वारञ्च। प्रधानाङ्गं च आदिञ्च। अल्पस्वप्रसाधनीयं च। समस्तान् वा पुना रेचयित्वा सर्वचित्तचैतनिरोधे आस्फानकः समाधेः। तस्य पद्मस्य पिण्डोऽनाहत-शरीरं बिन्दावतीतो लीनः। ततः सोऽपि पिण्डो बिन्दुनादे सोऽपि तन्मात्रे तदपि सर्वानुपलम्भेऽनालम्बने निराभासे चित्तमात्रे। तदप्यचिन्त्यनाम्नि धर्मधातौ। इति त्रयश्चत्वारिंशत्तमः पटलः।। 43।।

तत्र पद्मे एवंविधमनाहतं माया प्रज्ञापारमिता तज्ज्ञाप्यत्वाच्च तत्स्वभाव-त्वाच्च। विश्वमायारूपीति केचित्। शिरश्चन्द्रः स्वहृत्। नाभीत्यादिनापूर्वकर्मेव योगं पूरयति। पद्मस्य त्रयस्त्रिंशत्यन्त्राणि तैः केसरैश्चान्वितम्। इन्दुस्थितमनाहतं बोधिचित्तम्। वामावर्त्तेनाल्या तद् बहिर्दक्षिणावर्त्तेन काल्या प्रज्ञोपायतया संपुटीकृत्याऽधऊर्ध्वमुखसंयुक्तया वेष्टितम्। तदा शून्यं तदेव केवलं तत्र ध्यायात्। धर्मसंभोगनिर्माणमहासुखपद्मचन्द्रेषु च। संशुद्धेत्यादि विशुद्धालिकालिचन्द्र-सूर्यनासापुटं समीरोदयास्तं गमनं पश्येदिति केचित्। संशुद्धे निर्देशेऽस्मिन् योगे जाते चन्द्रसूर्यवाय्वोरुदयस्य वहनस्यास्तंगमो नाशः। अचलचित्तस्य वायु-वहनाभावात्। नासिकाग्रे अवधूती खगमुखां सर्षपे बिन्दौ चर आधेयः अचर आधारः स्वरादिशून्यं च ज्ञानञ्च निध्यायात्। अनेन क्रमेण सम्बोधिः दृश्यते साक्षात्क्रियते। क्लेशेन यत्पूर्वमामुखीकृतं तत् स्वरसेन करोतीति क्लेशस्योद्धृतं त्यागः। विषयसुखासङ्ग इति केचित्। योगिलक्षणं लक्षयति कामावचरदेवीयान् भोगान् कामगुणानीक्षते। अनुभवति स्वस्थानस्थित एव लभ्यते। रूपावचर-देवीयान् प्रीत्याहारादीन्। चेतसा समाधिना। आरूप्यावचरीयान् समापत्त्यादीन् भुंक्ते समापद्यते। आकाशविज्ञानाकिञ्चन्यसंज्ञात्रयभवाग्रगतचेतनामनोधर्मधातु-

मनोज्ञानादींश्चानुभवति। धर्मधातुः प्रभास्वरः बुद्धत्वं युगनद्धाभिसम्बोधिः। बालेत्यादि। परमाणुगर्भे रूपस्य मण्डलचक्रस्य चिन्तनं चित्तैकाग्रता। नादतन्मात्रस्य च परमाणुरूपस्य ततः सर्वकल्पनातीतसूक्ष्मज्ञानं भवतीति केचित्। न चेत्यादिनाऽचिन्त्यं व्याचष्टे परमार्थस्तु न रजः सूक्ष्मपरमाणुर्यस्मिन्। मण्डलचक्रं बीजमनाहतादि रूपं मण्डलचक्रादि। स्वभावोऽचिन्तनीयत्वम्। दिव्यचक्षुः श्रोत्रऋद्धिपरचित्तपूर्वनिवासानुस्मृत्यभिज्ञाः पञ्च। षष्ठी चास्रवक्षयज्ञानमभिज्ञा त्रिधा भिद्यते। आस्रवक्षयमभिजानीते। क्षयज्ञानं चाभिजानाति। निश्चिनोति सर्वथा क्षीणा एव मे आस्रवा इति।। क्षयज्ञानदर्शनं क्षयज्ञानाभिज्ञा न पुनरुपेत्स्यन्त इत्यभिजानातीति पुनरुत्पादक्षयाभिज्ञा। अत्र क्षयोऽभावः। स च पुनरुत्पादस्य आभिरष्टाभिरभिज्ञाभिः। सर्वज्ञः सर्वकृतनिर्माणं ज्ञानकायो धर्मकायः। तेजो देहप्रभा प्रियदर्शनोऽसेचनकमूर्त्तिः कल्पवृक्षवदविकल्पोऽपि जगदर्थकारीति सम्भोगः परिशेषेणोच्यते भवति निष्पद्यते जपति। धर्मं दिशति सदा कदापि विच्छेदाभावात्। यावन्त इत्यादिना देवतायोगमाह—यावन्तः सर्वकुलसंग्राहकाः। अङ्गं विक्षेपास्ताण्डविनः वचःप्रसरा हूँ फट् किलकिलादिध्वनीनुच्चरन्तः तावन्तः पञ्चमन्त्रेभ्यः स्वस्वबीजेभ्यो निष्पन्ना मुद्राविग्रहा येषां ते मन्त्रमुद्राः। स्वबीज-निष्पन्नशरीराः। के ते आह—श्रीहेरुका वज्रबुद्धरत्नपद्मविश्वडाकाः आलीढादि-पदैः स्थिता ऊर्ध्वाः। न तु निष्पन्नादयः। मुद्रा वा हाकिन्यः। ताश्च पञ्चहेरुकाणां पदेषु स्थिताः। शेषं पूर्ववत्। डाकिनीसमापन्ना वा डाकाः। यावन्तो डाकास्तावन्तः तेषां तासां च मुद्राश्च डाकिन्यः। पदं प्रज्ञोपायाभेदावस्था। तत्र व्यवस्थिताः। चतुर्दलं पद्मं चतुःपद्मम्। चक्रं कूटागारम्। एतदुक्तम्। चतुर्षु दलेषु चत्वारो डाकाः। वरटके डाक एकः। डाकिन्यो वा। उभये वा समापन्नाः। आकर्षणादिसर्वसिद्ध्यालया वज्राङ्कुशादयो वज्राङ्कुश्यादयो वा। द्वारेषु तथेति यथाभिधानोत्तरोक्तास्तथा सर्वेऽमी ध्येयाः। द्वारपालानाञ्चानियमः। ततः पञ्चात्मकं नवात्मकं वा मण्डलम्। इति चतुश्चत्वारिंशत्तमः पटलः।। 44।।

उक्तद्रव्येणातुरप्रतिकृतिं कुर्यात्। यावत् प्रमाणातुरकेशास्तावत्तावत् प्रमाणानि कन्याकर्त्तितसूत्राणि खण्डखण्डीकृत्य प्रतिकृतेः केशान् कुर्यात्। अन्तरीयघटादिकं वितानध्वजपुष्पादिशोभावन्तीं शिविकां विरचय्य तत्र शवमिव प्रतिकृतिं स्वापयेत्। ततो भगवद्भगवतीहृदयोपहृदयमालामन्त्रैः समस्त-

माण्डलेयमन्त्रैश्च प्रयोजनविदर्भणेन ता दृढाहङ्कारं साटोपं च चोदयेत्। तस्यां ज्ञानसत्त्वमारोपयेत्। स्वेष्टदेवताबीजेन तमधिष्ठयेत्। षड्वीरैः कवचयेत् वाराही द्वादशकवचाक्षरैश्च। भगवद्भगवतीहृदयमन्त्राभ्यां रक्षयेत्। न वीररक्तादिवसनं परिवारयेत् हृदयमन्त्रेण पुष्पं च समालभेत् धूपयेच्च। ततस्तदीयं यत्किञ्चिदलङ्कारादिकं तत् सर्वं तस्यैवं पशुनामधेयायै दद्यात्। ततोऽवतारणं निर्मञ्छनं कुर्यात्। प्रैतयानशिविका। हो हो मृतकः तस्य वाद्यं कालकादि। आचार्यस्तु कटकादिभूषणः कटिबद्धशास्त्रिकः खड्गधारी बद्धोष्णीषः कृत संनाहादिः वीरादिभिः परिवृत्तो गच्छेदादिश्मशानमतीवचिरन्तनम्। ततो हूँकारमुच्चरेत्। जोजोत्कारं च कारयेत्। ततः शान्तिकहोमं च कुर्यात्। ततो मण्डलं च वर्तयेत्। तत्राष्टदिग्विदिग्क्ष्वष्टौ काकास्यादीः मातृः न्यसेत्। मध्ये प्रतिरूपकं दक्षिणशिरसम्। मन्त्री आचार्यकृतरक्षः प्रतिकृतिकृतकवचादिक-माकृष्यातुरशरीरे विन्यसेत्। तच्च सुम्भादिना रक्षयेत्। साध्यं सितं रोगमुक्तं ध्यायात्। रोगेभ्यो विमोचोऽस्येति तथा। आलीढस्थित आचार्यः रक्षितं साध्यं छादयेत्। सदृशी मूर्त्तिः प्रतिकृतिः तां लंघयेत् देवदत्तस्य दुःखं च्छेदयामीत्युक्त्वा खड्गेन तां हन्यात्।

ऐन्द्राण्यः पूर्वाः काकास्यादिमातरोऽष्टौ ताभ्यस्तां खण्डखण्डीकृत्य शान्त्यर्थं विदर्भ्य हृदयमन्त्रेण दद्यात्। तत् स्थानप्रविष्टसर्वोपकरणमाचार्याय दद्यात्। रोगमुक्तिः शान्तिः। ततस्तत्रागतान् सर्वान् स्वा(स्था)पयित्वा वलिमेव तावत् प्रथमतो भोजयित्वा अन्यान्यप्योदनादीनि भोजयेत्। वस्त्रादिना च तोषयेत्। ततः शान्तिः कृता भवतीति। श्रीहेरुकाभ्युदयपञ्चचत्वारिंशत्तमपटलपञ्जिका।। 45।।

श्रीहेरुकाभ्युदयमहायोगिनीतन्त्रराजे कुमारचन्द्रकृता
कतिपयाक्षरा पञ्जिका समाप्ता।

हेरुकाभ्युदये पञ्जीं कृत्वा यत्पुण्यमर्जितम् ।
तेनाभितोऽस्तु विश्वस्य श्रीहेरुकतयोदयः ।।

गुरुष्वहो शिष्यजनस्य सेवा अहो गुरूणां करुणा च शिष्ये ।
यदत्र तन्त्रेऽभ्युदये गभीरे कुमारचन्द्रोऽपि करोति पञ्जीम् ।।

•

ABSTRACT OF ARTICLES

Stotra *1-4*

Buddhastotram is an extract from *Caryāpratiṣṭhādhikāra* (verses: 43-61) Chapter of *Mahāyānasūtrālaṅkāra* written by Ācārya Asaṅga. The Buddha has been praised in each of these verses with His various qualities.

The *stotra* (hymn) entitled *Ākāśagarbhabodhisattvanāmaśatādhyeṣaṇam* is excerpted from the 19th chapter of *Sarvatathāgatatattvasaṁgraha* and being published here. Bodhisattva Ākāśagarbha is praised in this stotra, by means of confering one hundred names while making the supplication.

Rahasye Parame Ramye *5-10*

Tantra is called an esoteric or secret practice. Every individual is not entitled to its practice as one experiences great bliss that is highly ecstatic, supermundane and supreme-of-all through tantric practice.

When the practitioners requested the Buddha to teach the means to attain the great bliss, in reply the Buddha said, *"Rahasye Parame Ramye* (The Esoteric is the Supreme Bliss!)" in *Cakrasaṁvara, Sampuṭodbhavatantra,* and *Yoginīsaṁcāratantra* etc.

This article attempts to explain in simple language the five paths based on the above mentioned tantric texts. These are the paths or means for attaining the supramundane bliss.

Mudrās in Bhūtaḍāmaratantra *11-16*

Not only in Buddhist or non-Buddhist tantras but also the presentation of *mudrās* (postures) are necessary in general worship, because the postures are the symbols of worship.

Recitation of *Gāyatrī mantra* is essential for every practioner holding tantric vows. The twenty four postures including *Sumukha, Sampuṭa* etc. are presented prior to the recitation, and the eight postures at the end of the recitation. Characteristics of postures in Buddhist Tantra are published in the

vols: 1, 3, 5, 8, 9 and 10 of *Dhīḥ* journal, and the characteristics of postures that are available in *Bhūtaḍāmaratantra* are published in the current volume.

Āryatriratnānusmṛtisūtram *17-32*

Triple Gem is the perfect and supreme object of refuge that is non-deceptive to all beings including *devas.* Hence in fact, it is the most appropriate practice to take refuge in the Triple Gem by means of recollecting their qualities.

Buddha is the entity of all the Three Gems (Buddha, Dharma and Saṁgha), and He posses all the necessary skills to protect those sentient beings who have taken refuge in Him.

There are three independent *sūtras* in *bkah hgyur* regarding the Recollection of the Triple Gem. But it is still a subject matter of investigation whether the three *sūtras* as available in present form are existing intact to its original form in terms of length of the text, its wordings, and so forth. Thus, the matter has been discussed in the introduction of this article.

Moreover, there are several points to be investigated with regard to Recollection *sūtras'* of Dharma and Saṁgha. Hence, an overview has been done on the critical points and the three different versions of *sūtras* are critically edited, restored into Sanskrit and translated into Hindi and published in the current volume.

Greatness of Guru in Mahāyāna and Tantrayāna *33-50*

The position of *Guru* is held very high in Indian tradition and the *Guru* is considered as an aspect of Brahmā, Viṣṇu and Maheśvara according to Vedic tradition. *Guru* is also accepted as the entity of Triple Gem—Buddha, Dharma and Saṁgha according to the Buddhist tradition.

Guru devotion is explained in length in Mahāyāna and Tantrayāna texts. Thus in this article, concept, types, nature, characteristics and greatness of *Guru* are hilighted. Benefits of venerating and serving *Guru*, and the consequences of dishonouring *Guru* are also discussed in this article.

Sources of Rare Buddhist Texts *51-72*

Information on 63 important manuscripts of *Avadāna* literature has been published under this title, in the last issue of *Dhīḥ* and information on the remaining 85 manuscripts are given in the current issue.

Various Forms of Buddhist Goddess Tārā *73-98*

There are various types of goddesses that are imagined as the consorts of the Five Dhyānī Buddhas among which Tārā is the most important Goddess according to Buddhist tradition. Hüang-tsang, a Chinese pilgrim has specially mentioned about the people's faith in Goddess Tara in his travel account in the 7th century.

The word Tārā is derived from the Sanskrit root-verb Tār— meaning to cross. It means Tārā helps sentient beings to cross the ocean of sufferings. Thus, Goddess Tārā liberates sentient beings from sufferings.

According to a Tibetan legend, Ārya Avalokiteśvara once shed tears out of his immense compassion generated through seeing the sufferings of the Saṁsāra. Drops of his tear fallen on the ground turned into a small lake where emerged two lotus flowers. Thus, the White and Green Tārās were beleived to be born from these two lotus followers. There was a custom of calling *Dolma* (Tārā) to every gentle woman in Tibet.

Here in this article, the nature and various aspects of Tārā are explained in accordance with *Sādhanamālā.*

Sañcaka : Method of Construction and its Greatness *99-116*

The Sanskrit term *Sañcaka* is a corrupted word known as *Tshatsha* or *Sāccha* in Tibetan. Generally the meaning of *Sañcaka* is a mould made of (metals like) brass, copper, bronze. It is used for moulding objects like small stupas and statues etc. Generally clay is used for moulding stupas and statues that are called *Sañcaka.*

Rituals and techniques for making *Sañcaka,* and merits obtained from creating it are explained in brief but clearly in this article.

The Nature of Dīkṣā in Buddhist and non-Buddhist Schools *117-122*

In the last volume of *Dhīḥ,* the details of *saṁvara, abhiṣeka* and *dīkṣā* in Buddhism were presented; and the nature of *dīkṣā* in Jain tradition is dicussed in the current volume.

General and Condensed Presentation of Tantra *123-138*

A Brief Exposition on General Tantra entitled "Key to the Door of Treasure of the Precious Tantra" by Ācārya Buston is being translated into Hindi and published in sequence in the volumes of *Dhīḥ.*

Kriyātantra, Caryātantra, Yogatantra, Anutarayogatantra are explained in "How Did Buddha Teach Tantra", the third topic of the "Buddha's Tantric Teachings", and the Hindi translation of the first three tantras are published in this volume.

Presentation of Vajrayāna's Grounds and Paths *139-148*

Sertog Lobsang Tsultrim Gyatso (1845-1914) was one of the greatest practitioner and scholar of Gelug tradition in Tibet. He had written many important texts on grammar, poetry, astrology, philosophy and tantra. The *Presentation of Vajrayāna's Grounds and Paths* is one of the most attractive text among his works, and it gives a brief but precise and lucid explaination on the Grounds and Paths of Vajrayāna.

Though being a latter scholar, he had referred to the views of certain reknowned earlier scholars but presented his own definition and conclusion on some critical points. His text gives explaination on all the four divisons of Buddhist tantras and it especially presents detail explaination on *abhiṣeka, maṇḍala,* and *utpattikrama* (Generation-Stage) and *niṣpannakrama* (Completion-Stage) of the Highest Yogatantra.

Thus, the Hindi translation of this text is undertaken and published gradually in sequence from this volume of *Dhīḥ* by keeping in view, the benefits of the text for scholars and readers interested in tantra.

Katipayākṣrāpañjikā on Herukābhyudayamahāyoginītantra *149-170*

It can be known from the title *"Katipayākṣarā"* that this is a very brief commentary on *Herukābhyudayamahāyoginītantra* written by Ācārya Kumāracandra.

The original Sanskrit manuscript of this root tantra is still not available. If the manuscript is found in near future, it will be edited and published along with the commentary. However, the Tibetan translation of both the root-text and commentary are available.

A copy of the manuscript of *"Katipayākṣarā"* was obtained from Kesar library, Kathmandu, Nepal through Dr. Vijayarāj Vajrācārya. Keeping in view the importance of the text, it is published in the cuurent issue.



རྩོམ་གྱི་ངོ་སྤྲོད་མདོར་བསྡུས།

སངས་རྒྱས་ཀྱི་བསྟོད་པ། ༡ - ༢

དུས་དེབ་འདོན་ཐེངས་འདིར་མདོ་སྡེ་རྒྱན་གྱི་སྤྱོད་པ་དང་མཐར་ཐུག་པའི་ལེའུའི་ཚིགས་སུ་བཅད་པ་ཞེ་གསུམ་ནས་རེ་གཅིག་བར་གྱི་གཞུང་ཚིག་རྣམས་བྱུར་འདོན་ཞུས་ཡོད། ཚིགས་བཅད་དེ་དག་རེ་རེར་ཡང་སངས་རྒྱས་ཀྱི་ཡོན་ཏན་ཐ་དད་ཅིང་སྣ་ཚོགས་པའི་སྒོ་ནས་བསྟོད་པར་མཛད་ཡོད།

བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་ཆེན་པོ་ནམ་མཁའི་སྙིང་པོ་ལ་མཆན་བཀྱས་གསོལ་བ་བཏབ་པ། ༢ - ༨

བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་ཆེན་པོ་ནམ་མཁའི་སྙིང་པོ་ལ་མཆན་བཀྱས་གསོལ་བ་བཏབ་པ་ཞེས་པ་འདིའི་ནང་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་ཆེན་པོ་ནམ་མཁའི་སྙིང་པོ་ལ་མཆན་བཀྱའི་སྒོ་ནས་གསོལ་བ་བཏབ་ཚུལ་བསྟན་ཡོད། གསོལ་བཏབ་ཀྱི་བསྟོད་ཚིག་འདི་དག་དེ་བཞིན་གཤེགས་པ་ཐམས་ཅད་ཀྱི་དེ་ཁོ་ན་ཉིད་བསྡུས་པའི་རྒྱུད་གཞུང་ལེའུ་བཅུ་དགུ་པ་ལས་བླངས་ཏེ་བཀོད་པའོ།།

གསང་བ་མཆོག་གི་དགྱེས་པ་ན།། ༤ - ༡༠

རྒྱུད་ལ་གསང་བའམ་སྔས་པ་ཞེས་བཤད་དེ། གསང་སྔགས་ནི་སྐྱེ་བོ་ཐམས་ཅད་ཀྱི་སྤྱོད་ཡུལ་མ་ཡིན་ཏེ། གསང་སྔགས་བསྒྲུབས་པ་ལས་མྱུར་དུ་བྱུང་བའི་བདེ་བ་སྡེ་འཇིག་རྟེན་ལས་འདས་པ་དང་བླ་ན་མེད་པའི་བདེ་བ་ཉམས་སུ་མྱོང་བའི་ཕྱིར་རོ། །དེ་ལྟར་ཐོབ་པའི་ལམ་བཅོམ་ལྡན་འདས་ཀྱི་བཤད་དུ་གསོལ་ཞེས་སྒྲུབ་པ་པོ་རྣམས་ཀྱིས་སྟོན་པ་ལ་ཞུས་པ་ན། དེའི་ལན་དུ། 'གསང་བ་མཆོག་གི་དགྱེས་པ་ན།' །ཞེས་པའི་གསུང་གཅིག་ཁོ་ན་འཁོར་ལོ་སྡོམ་པའི་རྒྱུད། སམྦུཊའི་རྒྱུད་དང་རྣལ་

འཁོར་ཀུན་སྤྱོད་ཀྱི་རྒྱུད་ལ་སོགས་པའི་ནང་བསྟན་པར་མཛད་ཡོད།

བྲིས་རྩོམ་འདིའི་ནང་གོང་གསལ་གྱི་རྒྱུད་གཞུང་རྣམས་ལ་གཞི་བྱས་པའི་སྒོ་ནས་ལམ་ལྔ་པོ་རྣམས་གོ་བདེའི་ཐོག་གསལ་བཤད་བྱ་རྒྱུའི་འབད་བརྩོན་ཞུས་ཡོད། ལམ་དེ་དག་ནི་འཇིག་རྟེན་ལས་འདས་པའི་བདེ་བ་ཐོབ་པའི་ལམ་མམ་སྒྲུབ་པའི་ཐབས་སོ།།

འབྱུང་པོ་འདུལ་བའི་རྒྱུད་དུ་གསལ་བའི་ཕྱག་རྒྱ། ༡༡ - ༡༦

ཕྱི་ནང་གི་རྒྱུད་གཞུང་རྣམས་ཁོ་ནར་མ་ཟད་སྤྱིར་བཏང་གི་མཆོད་པ་བྱེད་པའི་སྐབས་སུའང་ཕྱག་རྒྱའི་སྐོར་ངེས་པར་འབྱུང་སྟེ། ཕྱག་རྒྱ་དེ་དག་ནི་མཆོད་པའི་མཚོན་བྱེད་དུ་འདོད་པའི་ཕྱིར་དང་། དེ་ཙམ་དུ་མ་ཟད་སྡོམ་པ་ནོས་ཟིན་གྱི་སྐྱེ་བོས་དབྱངས་གསུམ་(གཱ་ཡནྟྲི་)གྱི་བཟླས་བརྗོད་ངེས་པར་བྱེད་དགོས་པ་དང་། བཟླས་བརྗོད་ཀྱི་སྔོན་དུ་སུམུཁ་དང་སམྤུཊ་ལ་སོགས་པའི་ཕྱག་རྒྱ་ཉེར་བཞི་པོ་རྣམས་དང་བཟླས་བརྗོད་ཀྱི་རྗེས་ཀྱི་ཕྱག་རྒྱ་བརྒྱད་བཅས་སྟོན་པར་བྱེད། ང་ཚོས་ཌྷཱིཿདུས་དེབ་དང་པོ། གསུམ་པ། ལྔ་པ་དང་། བརྒྱད་པ་ནས་བཅུ་པ་བཅས་སུ་རྒྱུད་གཞུང་ཁག་ཏུ་གསལ་བའི་ཕྱག་རྒྱ་རྣམས་ཀྱི་མཚན་ཉིད་བསྟན་ཟིན་པ་དེ་དག་ལས་འཕྲོས་ཏེ་འདོན་ཐེངས་འདིར་འབྱུང་པོ་འདུལ་བ་ཞེས་བྱ་བའི་རྒྱུད་དུ་གསལ་བའི་ཕྱག་རྒྱ་རྣམས་ཀྱི་མཚན་ཉིད་བསྟན་ཡོད།

འཕགས་པ་དཀོན་མཆོག་གསུམ་རྗེས་སུ་དྲན་པའི་མདོ། ༡༧ - ༣༢

དཀོན་མཆོག་གསུམ་ནི་འགྲོ་བ་ལྷ་དང་བཅས་པའི་བསླུ་བ་མེད་པའི་སྐྱབས་གནས་ཀྱི་རབ་དང་མཆོག་ཏུ་གྱུར་པ་ཡིན་པས། དེ་དག་གི་བླ་ན་མེད་པའི་ཡོན་ཏན་རྣམས་རྗེས་སུ་དྲན་པའི་སྒོ་ནས་སྐྱབས་སུ་འགྲོ་བ་ནི་དོན་དངོས་པོའི་གནས་ཚོད་ལ་མཆོག་ཏུ་འོས་ཤིང་འཚམས་ལ་ཉམས་སུ་བསྟར་འོས་པ་ཞིག་ཡིན། སྟོན་པ་བཅོམ་ལྡན་འདས་ནི་དཀོན་མཆོག་གསུམ་གའི་བདག་ཉིད་ཅན་ཡིན་པས། དེ་ལ་སྐྱབས་སུ་འགྲོ་བ་རྣམས་ཀྱི་དགོས་དམིགས་འགྲུབ་པའི་ཕྱིར་ཇི་ལྟར་སྒྲུབ་པར་བྱེད་པའི་ངེས་

འབྱོར་ཀུན་སྤྱོད་ཀྱི་རྒྱུད་ལ་སོགས་པའི་ནང་བསྟན་པར་མཛད་ཡོད།

བྲིས་རྩོམ་འདིའི་ནང་གོང་གསལ་གྱི་རྒྱུད་གཞུང་རྣམས་ལ་གཞི་བྱས་པའི་སྒོ་ནས་ལམ་ལྔ་པོ་རྣམས་གོ་བདེའི་ཐོག་གསལ་བཤད་བྱ་རྒྱུའི་འབད་བརྩོན་ཞུས་ཡོད། ལམ་དེ་དག་ནི་འཇིག་རྟེན་ལས་འདས་པའི་བདེ་བ་ཐོབ་པའི་ལམ་མམ་སྒྲུབ་པའི་ཐབས་སོ།།

འབྱུང་པོ་འདུལ་བའི་རྒྱུད་དུ་གསལ་བའི་ཕྱག་རྒྱ། ༡༡ - ༡༦

ཕྱི་ནང་གི་རྒྱུད་གཞུང་རྣམས་ཁོ་ནར་མ་ཟད་སྤྱིར་བཏང་གི་མཆོད་པ་བྱེད་པའི་སྐབས་སུའང་ཕྱག་རྒྱའི་སྐོར་ངེས་པར་འབྱུང་སྟེ། ཕྱག་རྒྱ་དེ་དག་ནི་མཆོད་པའི་མཚོན་བྱེད་དུ་འདོད་པའི་ཕྱིར་དང་། དེ་ཙམ་དུ་མ་ཟད་སྡོམ་པ་ནོས་ཟིན་གྱི་སྐྱེ་བོས་དབྱངས་གསུམ་(གཱ་ཡ་ཏྲི་)གྱི་བཟླས་བརྗོད་ངེས་པར་བྱེད་དགོས་པ་དང་། བཟླས་བརྗོད་ཀྱི་སྔོན་དུ་སུམུ་ཁ་དང་སམྤུ་ཊ་ལ་སོགས་པའི་ཕྱག་རྒྱ་ཉེར་བཞི་པོ་རྣམས་དང་བཟླས་བརྗོད་ཀྱི་རྗེས་ཀྱི་ཕྱག་རྒྱ་བརྒྱད་བཅས་སྟོན་པར་བྱེད། ང་ཚོས་ཌྷཱིཿདུས་དེབ་དང་པོ། གསུམ་པ། ལྔ་པ་དང་། བརྒྱད་པ་ནས་བཅུ་པ་བཅས་སུ་རྒྱུད་གཞུང་ཁག་ཏུ་གསལ་བའི་ཕྱག་རྒྱ་རྣམས་ཀྱི་མཚན་ཉིད་བསྟན་ཟིན་པ་དེ་དག་ལས་འཕྲོས་ཏེ་འདོན་ཐེངས་འདིར་འབྱུང་པོ་འདུལ་བ་ཞེས་བྱ་བའི་རྒྱུད་དུ་གསལ་བའི་ཕྱག་རྒྱ་རྣམས་ཀྱི་མཚན་ཉིད་བསྟན་ཡོད།

འཕགས་པ་དཀོན་མཆོག་གསུམ་རྗེས་སུ་དྲན་པའི་མདོ། ༡༧ - ༢༢

དཀོན་མཆོག་གསུམ་ནི་འགྲོ་བ་ལྷ་དང་བཅས་པའི་བསླུ་བ་མེད་པའི་སྐྱབས་གནས་ཀྱི་རབ་དང་མཆོག་ཏུ་གྱུར་པ་ཡིན་པས། དེ་དག་གི་བླ་ན་མེད་པའི་ཡོན་ཏན་རྣམས་རྗེས་སུ་དྲན་པའི་སྒོ་ནས་སྐྱབས་སུ་འགྲོ་བ་ནི་དོན་དངོས་པོའི་གནས་ཚོད་ལ་མཆོག་ཏུ་འོས་ཤིང་འཚམས་ལ་ཉམས་སུ་བསྟར་འོས་པ་ཞིག་ཡིན། སྟོན་པ་བཅོམ་ལྡན་འདས་ནི་དཀོན་མཆོག་གསུམ་གྱི་བདག་ཉིད་ཅན་ཡིན་པས། དེ་ལ་སྐྱབས་སུ་འགྲོ་བ་རྣམས་ཀྱི་དགོས་དམིགས་འགྲུབ་པའི་ཕྱིར་ཇི་ལྟར་སྐྱོབ་པར་བྱེད་པའི་ངེས་

པ་ཅན་གྱི་ཐབས་སམ་རྒྱུ་རྐྱེན་གྱི་རྣམ་པ་ཁྱད་པར་ཅན་ཀུན་དེ་ལ་ཡོངས་སུ་ཚང་ཞིང་རྫོགས་པར་ལྡན་པ་ཡིན་ནོ།།

མཆོག་གསུམ་རྗེས་དྲན་གྱི་སྐོར་ལ་ད་ཡོད་ཀྱི་བཀའ་འགྱུར་སྟར་མ་རྣམས་སུ་མདོ་ཚན་པ་གསུམ་མཉམ་དུ་བཞུགས་པ་འདི་དག་གི་རྒྱས་བསྡུས་ཀྱི་གཞུང་ཚད་དང་། ཚིག་སྦྱོར་གྱི་རིམ་པ་སོགས་ཇེ་མ་ཇེ་བཞིན་ཐོག་མ་ཉིད་ནས་ཡོངས་གྲགས་ཀྱི་ཚུལ་དུ་ཡོད་མེད་ཀྱི་སྐོར་ལ་དཔྱད་གཞི་ཆེ་བའི་གནད་དོན་མང་བས། དེ་དག་གི་སྐོར་ལ་དཔྱད་པ་ཞིབ་པ་ངོ་སྤྲོད་ཀྱི་ནང་བཀོད་ཡོད། ལྷག་པར་དུ་ཆོས་རྗེས་དྲན་དང་དགེ་འདུན་རྗེས་དྲན་གྱི་སྐོར་ལ་དཔྱད་གཞི་ཆེ་བའི་གནད་དོན་མང་པོ་ཡོད། མདོར་ན་དེ་དག་གི་སྐོར་ལ་འདིར་ཆེ་ལོང་རགས་པ་ཙམ་གྱི་དཔྱད་ཞིབ་དང་འབྲེལ་གཞུང་གསུམ་གའི་བོད་དཔེར་ཞིབ་ཚག་པོའི་འདྲ་བསྡུར་བསྒྱུར་ཞིབ་དང་། དེ་གསུམ་ག་ལེགས་སྦྱར་གྱི་སྐད་ཐོག་ཉམས་གསོ་དང་། ཧིན་སྐད་ཐོག་པབ་བསྒྱུར་བཅས་ཞུས་ནས་ཏྭཿདུས་དེབ་སོ་བདུན་པའི་ནང་སྤར་བསྐྲུན་ཞུས་པ་དགེའོ།།

ཐེག་ཆེན་དང་རྒྱུད་ཀྱི་ཐེག་པར་བསྟན་པའི་བླ་མའི་དེ་ཉིད་ལ་དཔྱད་པ། ༣༣ - ༤༠

རྒྱ་གར་གྱི་ལེགས་སྦྱར་ནང་བླ་མའི་གོ་གནས་སམ་གནས་བབས་ནི་ཧ་ཅང་མཐོན་པོ་ཡིན། རིག་བྱེད་ཀྱི་གཞུང་དུ་བླ་མ་ཞེས་པ་ཚངས་པ། ཁྱབ་འཇུག ལྷ་ཆེན་དབང་ཕྱུག་བཅས་ཀྱི་ངོ་བོར་འདོད་ལ། ནང་པའི་གཞུང་དུའང་བླ་མ་ནི་སངས་རྒྱས་དང་། ཆོས་དང་དགེ་འདུན་ཏེ་དཀོན་མཆོག་གསུམ་འདུས་ཀྱི་ངོ་བོར་བཞེད། ཐེག་ཆེན་དང་རྒྱུད་ཀྱི་ཐེག་པའི་གཞུང་རྣམས་སུ་བླ་མ་ཞེས་པར་ཤིན་ཏུ་རྒྱ་ཆེ་བའི་འགྲེལ་བཤད་ཐོབ་ཏུ་ཡོད་པས། ཆེད་རྩོམ་འདིར་དེའི་དགོངས་པའི་བབས་ས་དང་། རང་བཞིན། དབྱེ་བ། མཚན་ཉིད། ཡོན་ཏན་དང་སྐྱོན། དེའི་ཆེ་བ། བསྙེན་སྒྲུབ་དང་བསྙེན་ཚུལ། མཆོད་པ་དང་བསྙེན་བཀུར་གྱི་ཕན་ཡོན། བླ་མར་སྨོད་པའི་ཉེས་དམིགས་དང་ཚུལ་བཞིན་བསྟེན་པའི་ཕན་ཡོན་སོགས་ཀྱི་བརྗོད་བྱའི་དོན་ལ་གསལ་བཤད་བྱས་ཡོད།

ཆོས་དཀོན་པའི་གསུང་རབ་ཁག་གི་རྩ་བའི་མ་དཔེ།   ༤༡ - ༥༢

ཧྲི༔འདོན་ཐེངས་སོ་དྲུག་པའི་ནང་གསལ་འགོ་བརྗོད་འདིའི་འོག་གལ་ཆེའི་རྟོགས་བརྗོད་ཀྱི་གཞུང་ལག་བྲིས་དྲུག་ཅུ་རེ་གསུམ་གྱི་མཚན་བྱང་ངོ་སྤྲོད་བྱས་ཡོད། འདོན་ཐེངས་འདིར་སྔ་མའི་འཕྲོས་ཀྱི་གསུང་རབ་ལག་བྲིས་གཞན་བརྒྱད་ཅུ་གྱ་ལྔའི་མཚན་བྱང་ངོ་སྤྲོད་བཀོད་ཡོད།

ནང་པའི་བཞེད་རྒྱུན་ལྟར་གྱི་སྔ་ཚོགས་གཟུགས་ཅན་གྱི་ལྷ་མོ་སྒྲོལ་མ།   ༥༣ - ༦༨

ནང་ཆོས་སུ་སངས་རྒྱས་ལྷའི་ནུས་པའི་ངོ་བོར་གྱུར་པའི་ལྷ་མོ་མི་འདྲ་བ་སྣ་ཚོགས་སུ་ཡོད་ཅིང་། ལྷ་མོ་དེ་དག་ལས་སྒྲོལ་མ་ནི་གལ་གནད་ཆེ་ཤོས་ཤིག་ཏུ་འདོད། སྒྲོལ་མ་ནི་ནང་པའི་ལྷ་དང་ལྷ་མོའི་འཁོར་དུ་ཕྱི་ལོ་བརྒྱ་ཕྲག་དྲུག་པའི་ནང་ནས་རྩིས་སྲོལ་དར་ཡོད། དེ་ཡང་བརྒྱ་ཕྲག་བདུན་པའི་ནང་རྒྱ་ནག་གི་གནས་སྐོར་བ་ཧྱེན་སང་གིས་རང་གི་ལམ་ཡིག་ནང་སྒྲོལ་མ་ལ་དད་མོས་ལྷག་པར་ཡོད་སྐོར་བཀོད་ཡོད།

ལེགས་སྦྱར་སྐད་དུ་ཏཱ་ར་ཞེས་པ་བྱིངས་ཏྲྀ་ལས་བྱུང་ཞིང་། དེའི་དོན་ནི་ཕ་རོལ་ཏུ་སྒྲོལ་བྱེད་ཡིན། མིའི་འགྲོ་བ་གཙོས་པའི་སེམས་ཅན་ཐམས་ཅད་སྡུག་བསྔལ་གྱི་རྒྱ་མཚོ་ལས་སྒྲོལ་བར་བྱེད་པའོ།། བཤད་སྲོལ་འགའ་ཞིག་ལྟར་བྱས་ན། དུས་གཅིག་གི་ཚེ་བོད་དུ་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའ་ཆེན་པོ་འཕགས་པ་སྤྱན་རས་གཟིགས་དབང་ཕྱུག་གིས་འཁོར་བའི་སྡུག་བསྔལ་ལ་གཟིགས་ནས་སྙིང་རྗེ་ཚད་མེད་པ་འཁྲུངས་པས། སྤྱན་ཆབ་ཕྱུངས་པའི་ཐིག་པ་ས་ལ་ལྷུང་བ་དེར་མཚོའུ་ཞིག་ཏུ་གྱུར། མཚོའུ་དེའི་ནང་པདྨ་གཉིས་འཁྲུངས། པདྨ་དེ་དག་ལས་སྒྲོལ་མ་སྐུ་མདོག་དཀར་མོ་དང་སྒྲོལ་མ་ལྗང་ཁུ་ཅན་གཉིས་འཁྲུངས་པར་གྲགས། བོད་དུ་སྤྱོད་བཟང་ཅན་གྱི་བུད་མེད་སུ་འདྲ་ཞིག་ཡིན་རུང་སྒྲོལ་མ་ཞེས་བརྗོད་སྲོལ་ཡོད། འདོན་ཐེངས་འདིར་སྒྲུབ་ཐབས་ཀྱི་ཕྱེང་བར་བཤད་པ་ལྟར་གྱི་སྒྲོལ་མའི་ངོ་བོ་དང་རྣམ་པ་མི་འདྲ་བ་སྣ་ཚོགས་སུ་བསྟན་པ་རྣམས་ཀྱི་གསལ་བཤད་བྱས་ཡོད།

ཚ་ཚ་གདབ་པའི་ཚོ་ག་དང་གལ་གནད། ༩༩ - ༡༡༦

ལེགས་སྦྱར་གྱི་སཏྭཀ་ཞེས་པའི་ཚིག་དེ་བོད་སྐད་དུ་ཟུར་ཆག་ནས་ཚ་ཚའམ་སཱཙྪ་ཞེས་སུ་གྲགས། སྤྱིར་སཏྭཀ་གི་དོན་ནི། རག ཟངས། ཡང་ན་ལིའི་རྒྱུ་ལས་གྲུབ་པའི་མཆོད་རྟེན་ནམ་སྐུའི་དཔེབས་ཅན་དུ་བཟོས་པའི་བརྐོས་ཕོར་དང་། དེའི་ནང་འདམ་ལ་སོགས་པ་བླུགས་ནས་མཆོད་རྟེན་དང་འདྲ་སྐུའི་རྣམ་པ་ཆུང་དུ་བཞེངས་སྲོལ་ཡོད། དེ་ལྟ་བུའི་ལུགས་དེ་ལ་ཚ་ཚའམ་སཏྭཀ་ཟེར་བ་ཡིན། བསྟན་བཅོས་མཁན་རྣམས་ཀྱིས་བསྟན་པའི་ཚ་ཚ་གདབ་པའི་ཚོ་ག་གང་གསུངས་པ་དང་། ཚ་ཚ་བཏབ་པ་ལས་བསོད་ནམས་ཀྱི་ཚོགས་རྫོགས་ཚུལ་གྱི་ཆེ་བ་ལ་སོགས་པ་མདོར་བསྡུས་ཤིང་ཞིབ་གསལ་གྱི་སྒོ་ནས་ཆེད་རྩོམ་འདིའི་ནང་བསྟན་ཡོད།

ནང་ཆོས་དང་དེ་ལས་གཞན་པའི་ཆོས་ལུགས་རྣམས་སུ་བསྟན་པའི་སྨོན་པའི་ངོ་བོ། ༡༡༧ - ༡༢༢

དུས་དེབ་འདོན་ཐེངས་སྔ་མའི་ནང་ནང་པའི་ཆོས་ལུགས་ཀྱི་བཞེད་སྲོལ་ལྟར་གྱི་སྨོན་པ་དང་དབང་གི་གསལ་བཤད་བཀོད་ཟིན་ཅིང་། འདོན་ཐེངས་འདིར་གཙེར་བུ་པའི་ཆོས་ལུགས་སུ་གསལ་བའི་དབང་གི་ངོ་བོ་ངོས་འཛིན་བཅས་བསྟན་ཡོད།

བུ་སྟོན་རིན་པོ་ཆེས་མཛད་པའི་རྒྱུད་སྡེ་སྤྱིའི་རྣམ་གཞག་བསྡུས་པ། ༡༢༣ - ༡༣༨

༄༅༔དུས་དེབ་ཀྱི་འདོན་ཐེངས་སྔ་མ་རྣམས་སུ་འགོ་བརྗོད་འདིའི་འོག་བོད་ཀྱི་མཁས་དབང་བུ་སྟོན་རིན་པོ་ཆེས་མཛད་པའི་རྒྱུད་སྡེ་སྤྱིའི་རྣམ་གཞག་བསྡུས་པ་རྒྱུད་སྡེ་རིན་པོ་ཆེའི་གཏེར་སྒོ་འབྱེད་པའི་ལྡེ་མིག་ཅེས་པ་ཧིན་སྐད་ཐོག་ཕབ་བསྒྱུར་ཞུས་དང་ཞུ་བཞིན་པའི་རིམ་པ་ལས་འཕྲོས་ཏེ། འདོན་ཐེངས་འདིར་རྒྱུད་གཞུང་འདིའི་རྩ་བའི་ས་བཅད་གསུམ་པའི་ནང་གསེས་གསུམ་པ་རྒྱུད་སྡེ་

སངས་རྒྱས་ཀྱིས་ཇི་ལྟར་གསུངས་ཚུལ་དངོས་ལ། བྱ་སྤྱོད་རྣལ་འབྱོར་དང་རྣལ་འབྱོར་བླ་མེད་བཅས་ནང་གསེས་དབྱེ་བ་བཞི་ཡོད་པ་ལས་སྔ་མ་གསུམ་གྱི་སྐོར་རྣམས་ཧིན་སྐད་ཐོག་པབ་བསྒྱུར་ཞུས་ནས་བཀོད་ཡོད།

རྡོ་རྗེ་ཐེག་པའི་ས་ལམ་གྱི་རྣམ་གཞག ༡༣༩ - ༡༦༨

སེར་ཏོག་བློ་བཟང་ཚུལ་ཁྲིམས་རྒྱ་མཚོ་ནི་(༡༨༦༤ - ༡༩༡༦)དུས་རབས་བཅུ་དགུ་པའི་ནང་བྱོན་པའི་དགེ་ལྡན་བསྟན་པའི་སྲོལ་འཛིན་གྱི་མཁས་གྲུབ་ཆེན་པོའི་ཡ་གྱལ་ཞིག་ཡིན། ཁོང་གིས་ལྷུགས་རྩོམ་གནང་བའི་ཁོངས་སུ་སྒྲ་རིག་པའི་གཞུང་། རྩིས་གཞུང་། ལྷ་གྲུབ་ཀྱི་གཞུང་ལ་སོགས་པ་ནས་རྒྱུད་གཞུང་བར་གལ་གནད་ཆེ་བའི་གཞུང་མང་པོ་ཡོད། དེ་དག་ལས་རྡོ་རྗེ་ཐེག་པའི་ས་ལམ་གྱི་རྣམ་གཞག་ཞེས་པ་འདི་ཡི་ནང་རྒྱུད་ཀྱི་ས་ལམ་གྱི་སྐོར་རྣམས་ཚིག་གསལ་ལ་གོ་བདེ་ཞིང་མདོར་བསྡུས་པའི་སྒོ་ནས་བསྟན་པར་མཛད་ཡོད་པས་ཡིད་འཕྲོག་པ་ཞིག་ཡོད། རྩོམ་པ་པོའི་ཁྱད་ཆོས་ནི་ཁོང་ཕྱིས་བྱོན་གྱི་མཁས་དབང་ཞིག་ཡིན་རུང་མཁས་གྲུབ་གོང་མ་རྣམས་ཀྱི་བཞེད་པ་ཁག་བཀོད་ནས་དེར་རང་ཉིད་ཀྱི་གསལ་བཤད་དང་དགོངས་ཚུལ་རྣམས་ཀྱང་བཀོད་ཡོད། རྒྱུད་གཞུང་འདིས་རྒྱུད་སྡེ་བཞི་གའི་སྐོར་བསྟན་ཅིང་ལྷག་པར་དུ་བླ་མེད་རྒྱུད་ཀྱི་དབང་དང་། དཀྱིལ་འཁོར་གྱི་ཆོ་ག བསྐྱེད་རིམ་དང་རྫོགས་རིམ་ལ་སོགས་པར་འགྲེལ་བཤད་རྒྱས་པར་མཛད་ཡོད་པས། རྒྱུད་གཞུང་ཀློག་པ་ལ་དོན་གཉེར་ཅན་རྣམས་ལ་ཤེས་ཚད་འཕེལ་རྒྱུས་ཡོང་ཕྱིར་དེས་པར་ཕན་ཐོགས་ཡོད། རྒྱུ་མཚན་འདི་ལ་གཞིགས་ནས་གཞུང་འདི་ཧིན་སྐད་ཐོག་རིམ་པས་པབ་བསྒྱུར་ཞུས་ཏེ་པར་བསྐྲུན་ཞུ་རྒྱུ་ཡིན།

དཔལ་ཧེ་རུ་ཀ་མངོན་འབྱུང་རྣལ་འབྱོར་མའི་རྒྱུད་ཀྱི་རྒྱལ་པོ་ཆེན་པོའི་ དཀའ་འགྲེལ་ཡི་གེ་ཉུང་ངུ་། ༡༥༨ - ༡༦༠

སློབ་དཔོན་ཟླ་བ་གཞོན་ནུས་མཛད་པའི་དཔལ་ཧེ་རུ་ཀ་མངོན་པར་འབྱུང་བ་རྣལ་འབྱོར་མའི་རྒྱུད་ཀྱི་རྒྱལ་པོ་ཆེན་པོའི་དཀའ་འགྲེལ་(ཏོཧུཀུ་ཨང་། - ༡༥༢༡)འདི་གཞུང་ཤིན་ཏུ་བསྡུས་པ་ཞིག་ཡིན་པའང་དེའི་མཚན་བྱང་དུ་གསལ་བ་ལྟར་ཀྱི་ཡི་གེ་ཉུང་ངུ་ཞེས་པ་ལས་རྟོགས་ཐུབ། རྒྱུད་འགྲེལ་འདིའི་ལེགས་སྦྱར་གྱི་རྩ་གཞུང་ནི་ད་བར་རྙེད་སོན་མ་བྱུང་། འོན་ཀྱང་མ་འོངས་པར་ཡིག་རྙིང་དཔེ་མཛོད་ཁང་ལ་སོགས་པ་ནས་འདིའི་རྩ་གཞུང་རྙེད་སོན་བྱུང་ཚེ་སླར་ཡང་རྩ་འགྲེལ་ལྷན་སྒྲིར་ཞུས་བསྒྲིགས་ཀྱིས་པར་བསྐྲུན་བྱེད་ཐུབ། གཞུང་འདིའི་རྩ་འགྲེལ་གཉིས་ཀའི་བོད་འགྱུར་བཞུགས་ཡོད། ད་ལན་འདིར་དཀའ་འགྲེལ་འདིའི་དགོས་མཁོ་ལ་གཞིགས་ནས་པར་སྐྲུན་ཞུས་པ་ཡིན། དཀའ་འགྲེལ་འདིའི་མ་དཔེའི་འདྲ་བཤུས་ནི་ཊོཀཊར་ཤིཛཡ་རྣཛ་བཛྲཱཙཱརྱ་ལགས་ཀྱིས་བལ་ཡུལ་གྱི་ཀེ་སར་དཔེ་མཛོད་ཁང་ནས་བླངས་པ་ཞིག་རེད།

• • •

